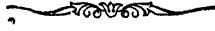


काव्य-कौस्तुभ



(अलङ्कार, पिंगल, कवि-परिचय और टिप्पणी सहित हिन्दी के प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमुख कवियों की चुनी हुई कविताओं का संग्रह)



लेखक और मंपादक

पं० विद्याभूषण मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०
हिन्दी-अध्यापक, थियोसॉफिकल नेशनल कालेज
काशी



प्रकाशक

देवेन्द्रचन्द्र विद्याभास्कर

विद्या-भास्कर बुकडिपो

चौक, बनारस सिटी

मूल्य ११)

प्रकाशक

देवेन्द्रचन्द्र विद्याभास्कर

विद्याभास्कर बुकडिपो

चीक, बनारस सिटी

द्वितीय आवृत्ति

मुद्रक

बजरंगवली 'विशारद'

श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी ।

KAVYA-KOUSTUBH

A SELECTION FROM REPRESENTATIVE
HINDI POETS WITH AN INTRODUCTION
AND NOTES.

Suited for
**HIGH SCHOOL CLASSES OF
THE UNITED PROVINCES.**

Compiled and edited
By
Vidya Bhushan Misra, M A., LL B ,
Lecturer in Hindi, Theosophical
National College, Benares

Published by
Devendra Chandra Vidya Bhaskar,
VIDYA BHASKAR BOOK DEPOT,
Chowk, Benares City

Second Edition] 1935 [Price Rupee One

प्राकथन

भाषा का विकास देश तथा काल के अनुसूचित निरन्तर होता रहता है। ऐतिहासिक क्रम से हिन्दी-काव्य में प्रारंभ से लेकर अबतक विभिन्न शैलियों, विचार-धाराओं और कल्पनाओं का उद्भव तथा उन्नयन हुआ है। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन कवियों ने केवल अपने विचारों को ही अपनी कृतियों में व्यक्त नहीं किया बल्कि अपने समय के समस्त जन-समाज की भावनाओं को भी अभिव्यक्त किया है। अतः उनकी कविता के पढ़ने से हम अपने अतीत एवं वर्तमान दोनों की सामाजिक चित्तवृत्ति से परिचित हो सकते हैं। साथ ही उनके द्वारा हमारी मनोवृत्तियों का भी परिष्कार होता जाता है। उनमें एक बार रुचि उत्पन्न हो जाने से हृदय में सुन्दर वस्तुओं के प्रति एक ऐसा अनुराग उत्पन्न हो जाता है जो निरन्तर बढ़ता जाता है तथा “और नसा सब चढ़ि-चढ़ि उतरैं, राम-नसा नित होत सवाई” की भाँति काव्य-नशा भी नित्य सवाई होता जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि हम अन्ततः मनुष्य कहलाने के वास्तविक अधिकारी हो जाते हैं। इसी प्रकार की भाव-परिष्कृति करने के उद्देश्य से इस संग्रह की सृष्टि हुई है।

इस संग्रह में हिन्दी के सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रसिद्ध

और प्रमुख कवियों की चुनी हुई कविताओं का समावेश हुआ है। कविताओं का चुनाव करते समय हमारा ध्यान इस बात पर भी रहा है कि विद्यार्थिगण हिन्दी-कविता की सभी काव्य-भाषाओं—ब्रज, अवधी तथा खड़ी बोली—के उपयुक्त नमूने पावें, उनकी मिठास का आस्वादन करें और हिन्दी के प्रत्येक श्रेणी के ख्यातनामा तथा प्रतिनिधि कवियों से परिचित हो जायें। इसमें संकलित कविताओं में से अधिकांश ऐसी मिलेंगी जिनके कवित्व के सन्पूर्ण तत्वों से युक्त होने में सन्देह न किया जायगा और जो पूर्णतया सरस भी समझी जायेंगी; परन्तु कुछ ऐसी भी मिलेंगी जिनमें केवल अपने समय की लोक-रुचि की झलक दिखाई पड़ेगी, यद्यपि उनमें कवित्व की मात्रा में न्यूनता खटकती।

इस संग्रह के आरंभ में काव्य के मुख्य-मुख्य तत्वों पर प्रकाश डालने के अभिप्राय से एक छोटा-सा निबन्ध दे दिया गया है। आशा है इससे विद्यार्थी कविता की सुन्दरता तथा मधुरता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। प्राचीन परिपाटी के अनुसार कविता की सुन्दरता मापने के लिये अलंकार पिंगल आदि की भी आवश्यकता समझी जाती थी। यद्यपि नवीन विचार के लोग इनके विरुद्ध-से हैं, फिर भी वे अपनी कृतियों में इनसे अपना पिंड नहीं छुड़ा सके। इस दृष्टि से इनका भी स्थायी महत्त्व है। इसीलिये अलंकार तथा

पिंगल के विशेष-विभागों का विवरण इस संग्रह में जोड़ दिया गया है। जहाँ कहीं परीक्षा के निमित्त आवश्यकता न भरे हो, वहाँ इनके द्वारा काव्य-कला के समझने में विशेष सुविधा हो सकेगी—इसमें सन्देह नहीं। संकलित कविताओं के रचयिताओं की संक्षिप्त जीवनी तथा उनकी कविता का आलोचनात्मक परिचय पाठारम्भ में दे दिया गया है। आलोचना में कवियों की विशिष्टताओं पर ही विशेष रूप से लिखा गया है। पाठ्य विषय को सुबोध बनाने तथा हृदयंगम कराने के लिये कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार एक छोटा-सा विषय-परिचयात्मक विवरण भी दे दिया गया है। गूढ़ स्थलों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से तथा अन्तर्कथाओं के ढूँढ़ने में पर-सापेक्षता बचाने के लिये संकलन के अन्त में कुछ टिप्पणियाँ भी जोड़ दी गई हैं, जिनमें दुर्बोध स्थलों तथा विशेष एवं विदेशी या प्रान्तीय प्रयोगों के अर्थ ही दिए गए हैं। साधारण व्यवहार में अप्रयुक्त शब्द एवं कोषों में कठिनाई से उपलब्ध होनेवाले मुहाविरें आदि भी भली-भाँति स्पष्ट कर दिए गए हैं। साधारण शब्दों के अर्थ लिखकर पुस्तक का कलेवर नहीं बढ़ाया गया। उनको जानने के लिये कोषों की सहायता नियमित रूप से लेनी पड़ेगी; इससे विद्यार्थियों का शब्द-भाण्डार भी बढ़ेगा और उनमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति जागरित होगी।

जिन कवियों की कविताओं का समावेश इस संग्रह में किया गया है उनका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। आशा है यह संकलन विद्यार्थियों के हृदय में हिन्दी-कविता के प्रति अनुराग उत्पन्न करने में सहायक होगा और वे इससे हिन्दी-काव्य के पूर्ण स्वरूप को एक सरसरी दृष्टि से देखने में समर्थ होंगे। यदि इसके पढ़ने से हमारे होनहार विद्यार्थी कुछ ज्ञानार्जन कर सके और इसे पढ़ते समय हमारे समान-व्यवसाय बन्धुओं को कुछ आनन्द आया तो हम समझेंगे कि हमारा प्रयास व्यर्थ नहीं गया।

वसन्ताश्रम
कामाक्षा, काशी
१० अक्टूबर १९३३

}

विद्याभूषण मिश्र

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
	काव्य के तत्व, अलंकार तथा पिगल		१-२४
(१) कबीरदास	१
	साखी	...	३
	पद	...	६
(२) मलिक मुहम्मद जायसी	८
	सिंहल-द्वीप-वर्णन	...	९
(३) सूरदास	१३
	बालकृष्ण	...	१५
	रूप-माधुरी	...	१८
	भ्रमर गीत	...	१८
(४) गोस्वामी तुलसीदास	२१
	नारद-मोह	...	२४
	बरवै-विभूति	...	३१
	सरस-सवैये	...	३२
	पदावली	...	३५
(५) नरोत्तम दास	३८
	सुदामा का द्वारिका-गमन तथा		
	श्री कृष्ण से भेंट	...	३९
(६) रहीम	∴	...	४५

(२)

विषय			पृष्ठ
	नीतिमाला	...	४६
	बरवै-विलास	...	४९
	गीत-गोविन्द	...	५०
(७) केशवदास		...	५२
	सीता-स्वयंवर	...	५३
(८) रसखानि		...	५९
	भव्य-भाव	...	६०
(९) सेनापति		...	६४
	ऋतु-वर्णन	...	६५
	ललित-कवित्त	...	६७
(१०) बिहारीलाल		...	६९
	बिहारी-वैभव	...	७०
(११) भूषण		...	७४
	शिवाष्टक	...	७५
	छत्रसाल-शास्त्रच्छटा	...	७८
(१२) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र		...	७९
	मंगलाचरण	...	८१
	रसीले-सवैये	...	८१
	लोरी	...	८३
	कालिन्दी की कमनीयता	...	८४
(१३) श्रीधर पाठक		...	८७

विषय		पृष्ठ
	वर्षा-विभव ...	८८
	सुसन्देश ...	९१
	वनाष्टक ...	९२
(१४) अयोध्यासिंह उपाध्याय	...	९४
	गोचारण से प्रत्यागमन ...	९५
	कलपता कलेजा ...	९९
	क्या से क्या ...	१००
(१५) जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	...	१०३
	भीष्म-प्रतिज्ञा ...	१०४
	वीर अभिमन्यु ...	१०५
	श्री शिव-वन्दना ...	१०५
	गंगावतरण ...	१०८
(१६) रामचन्द्र शुक्ल	...	१०९
	प्रकृति-पर्यवेक्षण ...	११०
	कुमार का रंग-निवास ...	११३
(१७) सत्यनारायण 'कविरत्न'	...	११८
	उपालम्भ ...	११९
	प्रभो ! ...	१२०
	गिरिजा-सिन्धुजा-संवाद ...	१२१
	भ्रमर दूत ...	१२२

विषय		पृष्ठ
(१८) मैथिलीशरण गुप्त	...	१२९
मलय-मारुत	...	१३०
नक-कटैया	...	१३२
(१९) जयशंकर प्रसाद	...	१४०
एकान्त में	...	१४१
भरत	...	१४२
(२०) गोपालशरण सिंह	...	१४५
घनश्याम	...	१४६
वह छवि	...	१४७
तलवार	...	१४९
गोपाल	...	१५१
(२१) सियारामशरण गुप्त	...	१५२
अबोध	...	१५२
डाक्टर-साहब	...	१५४
	...	१६०
लहरों का गीत	...	१६१
बालापन	...	१६१
फूलों का गान	...	१६६
कली	...	१६७

काव्य के तत्व

काव्य के तत्व

किसी राजा के यहाँ दो परिहृत पुरस्कार पाने की इच्छा से गए । उनमें से एक व्याकरण-शास्त्र का वेत्ता था और दूसरा साहित्य का रसिक । वे दोनों अपने को परस्पर एक दूसरे से बढ़कर समझते थे । राजा ने उनकी परीक्षा लेने के लिये सामने की ओर एक सूखा पेड़ दिखाकर उनसे उसका वर्णन करने के लिये कहा । व्याकरण-शास्त्री ने कहा—“सामने शुष्क काष्ठ विद्यमान है” और साहित्य-शास्त्री ने कहा—“नीरस तरु सम्मुख विलसित है ।” इन दोनों कथनों में एक ही बात दो प्रकार से कही गई है । किन्तु दूसरे कथन में मर्म-स्पर्शिता तथा सुन्दरता है । उसने एक सूखे टूँठ में भी रस का संचार कर दिया है । इस प्रकार, जिस उक्ति में कोई ऐसा चमत्कार हो जिसके सुनते ही श्रोता के हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न हो जाय, उसे हम कवित्वपूर्ण कह सकते हैं । जिस वाक्य के शब्द सुनने में मधुर और रुचिवर्द्धक हों और जिसके अर्थ पर ज्यों-ज्यों विचार किया जाय त्यों-त्यों अनिर्वचनीय आह्लाद मिले उसे हम ‘कविता’ कह सकते हैं । ऐसा वाक्य गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है । किन्तु प्रायः सभी देशों

में उक्त गुणों से सम्पन्न वाक्य अधिकतर पद्यात्मक ही माने जाते हैं। इस कारण, पद्य में ही कविता हो सकती है—यह धारणा बहुत-से लोगों की है। पर सच तो यह है कि पद्य भावों को व्यक्त करने का एक ढंग मात्र है।

यदि भाव में मर्म-स्पर्शिता और आकर्षण शक्ति है तो उसे चाहे जिस विधि से अभिव्यक्त किया जाय वह कवित्व गुण से सम्पन्न समझा जायगा। इसके विपरीत भाव-विहीन पद्य को कोरी तुकबन्दी या छन्दोबद्ध रचना ही कह सकते हैं। अतः 'पद्य' और 'कविता' का अन्तर ध्यान में रखने से हम रंगीन काँच को मणि समझ बैठने की भूल से बच सकते हैं। साधारणतया हर एक पद्यबद्ध उक्ति को कविता कहा जाता है। यह भूल है। जो बात हमारे हृदय को स्पर्श करनेवाली न हो, उसे कविता नहीं कहना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि कविता का कार्य केवल कुछ समय के लिये हमारा मनोरंजन करना मात्र है। पर इस कथन में भी सत्य का अंश बहुत कम है। कविता कोई तमाशा नहीं है। उसका मुख्य कार्य तो मनोवृत्तियों का परिष्कार कर उन्हें ऐसी बना देना है जिससे उनमें सहानुभूति की पूर्ण मात्रा उत्पन्न हो जाय। जिस प्रकार आदि कवि वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक के व्याध-बाण से आहत होकर गिरने पर अपने

हृदय में विरहभविधुर पत्नी के समान वेदना का अनुभव किया था, इसी प्रकार कविता का चरम लक्ष्य यही है कि वह मनुष्य की मनोवृत्तियों का परिष्कार करके उसे इस योग्य बना दे जिससे वह स्वयं दूमरे के सुख दुःख में योग दे सके और जगत् के मर्म-स्पर्शी दृश्यों का देख वा सुनकर अपने हृदय तथा उन दृश्यों में सामञ्जस्य का अनुभव करे। इसी दृष्टि कोण से विद्वद्वर पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने “कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामञ्जस्य स्थापन” ❀ माना है। कविता के द्वारा ही मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसका सृष्टि के सभी चर-अचर, सजीव-निर्जीव पदार्थों के साथ आभ्यन्तरिक सम्बन्ध है और तभी वह पशुओं की स्वार्थ-सीमा को लौंघकर जीवन की व्यापकता का

* “कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामञ्जस्य-स्थापन है। हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अतः प्रकृति का सम्बन्ध घांट करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। ...यदि मनुष्य लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरा घास के बीच घूमकर पहनेवाले शीत, काली चट्टानों पर चोंदी की तरह भरते हुए भरने, मजरा में लदी हुई अमराइया को देख क्षणभर लौन न हुआ, यदि कलरव करते हुए प्राँक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि सुन्दर रूप को देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि दुःखों का आर्तनाद सुन न पसाजा यदि अनाथों और अबलाओं पर श्रृत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह हा क्या गया ?”—(‘त्रिचार-वीथी’ से)।

अनुभव करता है। अस्तु, जिस पद्य में कही हुई उक्ति के द्वारा हमारे संकुचित विचारों का स्थान उदार आशय ले लें वही कविता के प्रवित्र नाम की अधिकारिणी है।

कविता के 'वाह्य' और 'आभ्यन्तर' दो अंग माने जा सकते हैं। वाह्य से तात्पर्य उसके शब्दों के संघटन, उनके सौन्दर्य, उनकी शुद्धता, छन्द, अलंकार आदि से है और 'आभ्यन्तर' से आशय उसमें व्यक्त भावों के अर्थ, उसकी प्रभावोत्पादकता, कल्पना आदि से है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब किसी कविता में शब्द और अर्थ दोनों में मनोहरता और चमस्कार पाया जाता है—उसका अन्तरंग और बहिरंग दोनों सुन्दर होता है—तभी उसे श्रेष्ठ कविता कह सकते हैं।

अतः काव्य के लिये भाव की रमणीयता अपेक्षित है; और भाषा की रमणीयता सोने में सुगन्ध लाने के सदृश है। कविता के भाषा-संबंधी सौन्दर्य की कुछ बातें आगे दिए हुए अलंकारों के विवरण के अन्तर्गत देखी जा सकती हैं। गद्य में हो सकने पर भी कविता का परंपरागत सम्बन्ध पद्य से चला आ रहा है, इसलिये पद्य के सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातें पिंगल के अन्तर्गत आगे दे दी गई हैं। आशा है इन अलंकार और पिंगल के प्रकरणों से इस संग्रह में दी हुई कविताओं की सुन्दरता का अनुभव करने में कुछ सहायता मिलेगी।

पिंगल

१ पद्य—जिस रचना में वर्णों के मान, लय और यति का विचार किया जाता है उसे पद्य कहते हैं। पद्यार्थिक रचना का दूसरा नाम छन्द है क्योंकि पद्य किसी न किसी छन्द में होता है। छन्द को पद्य का साँचा समझना चाहिए।

२ पिंगल-शास्त्र—कविता में सगीत-सौंदर्य उत्पन्न करने के निमित्त जिस शास्त्र में पद्य-रचना के नियमों तथा लक्षणों का चर्चेख हो तथा पद्य के अनेक भेदों का वर्णन हो उसे छन्द-शास्त्र कहते हैं। इस शास्त्र के आदि-आचार्य महर्षि पिंगल माने जाते हैं अतः छन्द-शास्त्र इन्हीं आचार्य के नाम से विख्यात हुआ।

३ लघु तथा गुरु (स्वर)—छन्द के विचार से वर्णों अर्थात् अक्षरों के दो भेद होते हैं—

(क) लघु—जिस वर्ण के उच्चारण में सबसे कम समय लगता है उसे लघु-वर्ण कहते हैं। लघु-वर्ण का मान एक मात्रा है और उसका चिह्न एक खड़ी पाई '।' है। अ, इ, उ, ऋ और लृ ये ह्रस्व स्वर लघु माने जाते हैं।

(ख) गुरु—जिस वर्ण के उच्चारण में लघु-वर्ण से दूना समय लगता है उसे गुरु-वर्ण कहते हैं। इसका मान दो मात्राएँ, और इसका चिह्न 'ऽ' है। आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ये दीर्घ स्वर गुरु माने जाते हैं।

४ लघु तथा गुरु (व्यंजन तथा स्वर)—(क) व्यञ्जतो तथा संयुक्त वर्णों का लघु अथवा गुरु होना उनके सार्थ मिले हुए स्वरों पर निर्भर है। जैसे, क, कि, कु, क्ति ये ह्रस्व-स्वर से युक्त व्यंजन वा संयुक्ताक्षर लघु है और का, की, कू, कौ, क्ते ये दीर्घ स्वर से युक्त व्यंजन वा संयुक्ताक्षर गुरु है।

(ख) संयुक्ताक्षर के पूर्व का लघु-वर्ण गुरु माना जाता है, जैसे—

आकृष्ट = ५ ५ ।

सन्दर्भ = ५ ५ ।

(ग) अनुस्वार और विसर्गयुक्त वर्ण गुरु होते हैं, जैसे, कं, कः, अं, अः ।

(घ) हलन्त के पूर्व का वर्ण दीर्घ माना जाता है और हलन्त वर्ण की मात्रा नहीं गिनी जाती। जैसे पृथक् = १ ५

(ङ) चन्द्रबिन्दुवाले लघु-वर्ण लघु ही रहते हैं, जैसे, अँदेसा = १ ५ ५ ; कँटिया = १ ५ ५

अपवाद—वर्णों का लघु अथवा गुरु होना बहुत कुछ उनके उच्चारण पर निर्भर है अतः निम्नाङ्कित अपवादों पर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है:—

(क) संयुक्ताक्षर के पूर्व का लघु-वर्ण अथवा गुरु-वर्ण जब खींचकर पढ़ा जाता है, तब वह गुरु होता है। जैसे, ऊपर के उदाहरण में आकृष्ट (५ ५) और सन्दर्भ (५ ५) किन्तु यदि वह हलके-से पढ़ा जाय तो लघु ही माना जाता है, जैसे—

उठ्यो = । ५

एक्का = । ५

(ख) कभी-कभी उच्चारण की सुगमता के निमित्त गुरु वर्ण लघु और लघु वर्ण को गुरु पढ़ा जाता है, जैसे—

भूप बाग-वर देखेउ जाई, जहँ बसन्त रितु रही लोभाई ॥

इस उदाहरण में 'देखेउ' शब्द में 'खे' को गुरु होते हुए भी लघु ही पढ़ना पड़ेगा। इसी प्रकार 'लोभाई' शब्द में 'लो' को गुरु होते हुए भी लघु ही पढ़ना पड़ेगा। ऐसे ही 'तब लगि मोहिं परेखेहु भाई' में 'खे' को ह्रस्व ही पढ़ेंगे।

(ग) हिन्दी के वर्णिक वृत्तों में संस्कृत छन्दों के नियमानुसार चरण का अन्तिम अक्षर यदि लघु हो तो भी गुरु माना जाता है।

५ विराम—बहुत से लंबे छन्दों के एक ही चरण में पढ़ते समय एक ही जगह या कई जगह जिह्वा को रुकावट या अवरोध होता है। इस रुकने को विराम या विश्राम या यति कहते हैं, जैसे—

भे प्रकट कृपाला, दीनदयाला, कौशल्या-हितकारी ।

उपर्युक्त पद कृपाला और दयाला पर टूटता है; अर्थात् इस पद में आरंभ से दस और आठ मात्राओं पर यति है।

६ लय या गति—प्रत्येक छन्द में एक प्रकार का प्रवाह होता है। इसे 'गति' या 'लय' भी कहते हैं। जिस प्रकार वायु

के संचार से जल में लहरें एक विशेष क्रम से ऊपर-नीचे उठती-गिरती दिखाई देती हैं उसी प्रकार संगीत में भी स्वरो का आगे-अवरोह अर्थात् उतार-चढ़ाव एक विशेष क्रम से होता जान पड़ता है। लक्षण के अनुसार शुद्ध रहते हुए भी गति का ध्यान न रखने से छन्द दूषित हो जाता है, जैसे—

तात, यह सोई जनक-तनया । जेहि कारन धनुष-जग्य होई ॥

यहाँ चौपाई के लक्षण के अनुसार प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होने पर भी 'लय' का अभाव है, पाठ धारावाहिक गति से नहीं चलता। ऐसा लगता है मानो गाड़ी बनारस की ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर से होकर जा रही है। अतः यह पाठ दूषित है। इसी पंक्ति को यदि यों रख दें—

तात, जनक-तनया यह सोई । धनुष-जग्य जेहि कारन होई ।

तो पाठ लय-संयुक्त होने के कारण मधुर जान पड़ने लगता है। लय का ज्ञान अभ्यास पर ही निर्भर है; इसके लिये कोई विशेष नियम नहीं है।

७ छन्द—ऊपर कहा जा चुका है कि जिस रचना में बर्णों के मान, लय और यति का विचार किया जाता है उसे 'पद्य' कहते हैं और पद्यात्मक रचना का ही दूसरा नाम छन्द है। हिन्दी के अधिकांश छन्दों में तुकान्त भी रहता है। प्रत्येक छन्द के चार भाग होते हैं जिन्हें 'पद' अथवा 'चरण' कहते हैं। कुछ

छन्द (जैसे दोहा) ऐसे हैं जो दो पंक्तियों में लिखे जाते हैं, ऐसे छन्दों की प्रत्येक पक्ति को 'दल' कहते हैं । हिन्दी में कुछ ऐसे मात्रिक छन्द भी प्रचलित हैं जिनमें चार से अधिक चरण होते हैं, जैसे कुण्डलिया और छप्पय; इन दोनों छन्दों में छः चरण होते हैं । छन्दों के दो मुख्य भेद हैं—(१) मात्रिक (२) वर्णिक ।

मात्रिक छंद—जिन छन्दोंके प्रत्येक चरण में मात्राओं की संख्या निश्चित हो उन्हें मात्रिक छन्द कहते हैं । मात्रिक-छन्द के तीन उपभेद हैं—

(१) सम—जहाँ चारों चरणों में मात्राओं की संख्या समान हो, जैसे चौपाई ।

(२) अर्द्ध सम—जहाँ पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरणों में मात्राओं की संख्या समान हो, जैसे दोहा, सोरठा ।

(३) विषम—जहाँ चारों चरणों में मात्राओं की संख्या असमान हो अथवा जिस छन्द में चार से अधिक चरण हों, जैसे, कुण्डलिया ।

मात्रिक सम छन्द

(१) चौपाई—इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं, चरण के अन्त में दो गुरु रखने से इसकी गति अच्छी हो जाती है; जैसे—

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी ।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा ।
दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥

(२) रोला—इस छन्द के प्रत्येक चरण मे ग्यारह और तेरह मात्राओं पर विराम देकर कुल २४ मात्राएँ होती है । चरण के अन्त के दो अक्षर गुरु होने चाहिए; किन्तु यह नियम सर्वत्र नहीं पाया जाता; जैसे—

इत सुरसरि की धाक, धमकि, त्रिभुवन भय-पागे ।
सकल सुरासुर बिकल, बिलोकन आतुर लागे ॥
दहलि दसौं दिग-पाल, बिकल-चित्त इत-उत धावत ।
दिग्गज-दिग दतनि दवोचि दृग भभरि भ्रमावत ॥

(३) रूग्माला—प्रत्येक चरण मे १४ और १० मात्राओं के विश्राम से इस छन्द मे २४ मात्राएँ होती है । अन्त मे गुरु-लघु होते हैं, जैसे—

जीभ को बल द्विजन में यह, स्वयं-सिद्ध प्रमान ।
बाहु को बल क्षत्रियनु मे, जग प्रसिद्ध महान ॥
सख-धारी द्विज रहेउ भृगु, बंसमनि महाराज ।
कहु तिनहि जर्य करि राम ले, कियो कौन दुर्जय काज ॥

(४) गी.निष्क—प्रत्येक चरण मे १४ और १२ मात्राओं के विश्राम से इस छन्द मे २६ मात्राएँ होती हैं, अन्त में लघु-गुरु होते हैं, जैसे—

स्वर्ण-पिञ्जर में पड़ा भी, जन्म भर है भूलता ।
किशुकोदर को न तो भी, शुरु कभी है भूलता ॥
है जघन्येश्वर वही जो, वन्य उसको बूझता ।
धन्य है जो मान्य जन्मस्थान को है पूजता ।

(५) हरिगीतिका—प्रत्येक चरण में १६ और १२ मात्राओं के विश्राम से इस छन्द में २८ मात्राएँ होती हैं, जैसे—

अपने जनो द्वारा उठाकर समर से लाए हुए,
ब्रह्म-पूर्ण निष्प्रभ और शोणित पङ्क से छाए हुए,
प्राणेश-शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई,
वह नव-वधू फिर गिर पड़ी हा नाथ ! हा ! कहती हुई ॥

मात्रिक अर्द्धसम छंद

(१) बरवै—इस छन्द के विषम चरणों मे अर्थात् प्रथम और तृतीय चरणों मे १२ मात्राएँ होती है । सम चरणों में अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ चरणों मे ७ मात्राएँ होती हैं; अन्त में लघु-गुरु-लघु (| S |) होना आवश्यक है, जैसे—

जटा मुकुट कर सर धनु,
संग मरौच ।

चित्तवन बसति कनखियनु;

अखियनु बीच ॥

(२) दोहा—विषम चरणों में १३ मात्राएँ तथा सम चरणों में ११ मात्राएँ होती है। सम चरणों के अन्त में लघु पड़ना आवश्यक है। जैसे—

सघन कुञ्ज छाया सुखद,

सीतल मन्द समीर ।

मन है जात अजौ वहै,

वा जमुना के तीर ॥

(३) सोरठा—विषम चरणों में ११ तथा सम चरणों में १३ मात्राएँ होती हैं, जैसे—

कुन्द-इन्दु-सम देह,

उमा-रमन करुना-अयन ।

जाहि दीन पर नेह,

करौ कृपा मर्दन-मयन ।

मात्रिक विषम छन्द

(१) कुण्डलिया—इस छन्द के आदि में एक दोहा रखा जाता है और फिर उसमें एक रोला मिलाया जाता है। दोहे के चौथे चरण को रोला के आरंभ में दुहराते हैं। दोनों छन्दों के

मेल से कुण्डलिया में छः चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। कुण्डलिया के आदि तथा अन्त के कुछ शब्द समान होते हैं, जैसे—

करके दृग ऊँचे लखें, भोरे भरे पियार ।
 ग्राम बधू तुहि जान के, खेती फल दातार ॥
 खेतीफल दातार, पहुँचियो मालभूमि वर ।
 नए जुते जहँ खेत, सुगन्धित होई अधिकतर ॥
 कल्लु पच्छिम दिसि पलटि, शीघ्र गति तनमे धरके ।
 चलियो जलधर मीत, फेर उत्तर मुख करके ॥

×

×

×

×

अलङ्कार

अलङ्कार शब्द का अर्थ है आभूषण । जिस प्रकार सुन्दर वस्त्र तथा आभूषणों के धारण करने से शरीर की शोभा बढ़ जाती है उसी प्रकार अलङ्कारों के प्रयोग से काव्य का रमणीयता बढ़ जाती है । वारतव मे “अलङ्कार वह युक्ति है जो भावों का उत्कर्ष दिखाने अथवा किसी वस्तु का रूप, गुण या क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे सहायक हो,” इस दृष्टि से अलङ्कार कथन की एक युक्ति या वर्णन शैली मात्र है । कुछ ऐसे भी अलङ्कार है—जैसे श्लेष और यमक—जिनके द्वारा वाक्य मे कुछ विलक्षणता या चमत्कार की योजना हांती है; किन्तु उनका स्थान काव्य मे निम्न माना गया है । अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं—शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार ।

जहाँ काव्य मे रमणीयता लाने के निमित्त ऐसे शब्दों या वर्णों की योजना की जाती है जिनके प्रयोग से उसमें रोचकता या चमत्कार आ जावे वहाँ शब्दालङ्कार माना जाता है । रोचकता अथवा विलक्षणता की स्थिति शब्दों मे ही रहती है, अतः ऐसे स्थलों पर यदि हम सौन्दर्योत्पादक शब्दों को हटाकर उनके पर्यायवाची शब्द रख दें तो वाक्य की रमणीयता जाती रहेगी ।

अर्थालङ्कारों में अर्थ में रमणीयता होने के कारण पर्यायवाची शब्दों के रख देने से भी वाक्य की रोचकता में बाधा नहीं पहुँचती ।

शब्दालंकार

(१) अनुप्रास—जहाँ एक ही प्रकार की ध्वनि बार-बार दुहराई जाती है वहाँ अनुप्रास अलङ्कार होता है, जैसे,—

सूखे-से सूखे-से सकुबके-से सके-से थके,

भूले-से भ्रमे-से भभरे-से भकुवाने-से ।

हौले-से हले-से हूत-हूले-से हिये मैं हाय

हारे-से हरे-से रहे हेरत हिराने-से ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में 'स', 'भ' तथा 'ह' अक्षरों की बार-बार आवृत्ति होने से एक विचित्र शब्द-सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है । ऐसे स्थलों पर अनुप्रास अलङ्कार माना जाता है, इस अलंकार के तीन मुख्य भेद हैं—

(क) छेकानुप्रास—जहाँ एक ही अक्षर अथवा अनेक अक्षरों की केवल एक ही बार आवृत्ति हो; जैसे,—

मार मार कर दुष्ट दलों को भार भूमि का हरते हैं ।

इस चरण में 'म' 'द' तथा 'भ'—इन व्यंजनों की आवृत्ति केवल एक ही बार हुई है ।

(ख) वृत्त्यनुप्रास—जहाँ एक अक्षर की अथवा अनेक अक्षरों की आवृत्ति कई बार हो; जैसे,—

बोली बदरान सों बुझै न बीजुरी की आग, '

बीजुरी न मारे बजमारे बदरान कों ।

(ग) लाटानुपास—इस अलङ्कार में ऐसे शब्द या वाक्य दुबारा आते हैं जिनका अर्थ तो एक ही होता है किन्तु अन्वय करने से पद का तात्पर्य या अर्थ भिन्न हो जाता है; जैसे,—

पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग, नरक ता हेतु ।

पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु ॥

(२) यमक—जहाँ समान वर्ण-समुदाय की आवृत्ति हो किन्तु प्रत्येक स्थल पर उन वर्ण-समुदायों का पृथक् पृथक् अर्थ हो, जैसे,—

(क) मनका फेरत जुग गया, गया न मनका फेर ।

कर का मनका छॉड़ि कै, मनका मनका फेर ॥

(ख) ढासन छॉड़ि कै कासन ऊपर आसन माख्यो पै आस न मारी ।

(ग) ऐसी परीं नरम हरम पातसाहन की,

नासपाती खाती ते बनामपाती खाती हैं ॥

(३) श्लेष—इस अलङ्कार में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिनके दो या अधिक अर्थ होते हैं; जैसे,—

(१) हितकारी ऋतु-राज तुम साजत जग आराम,

यहाँ ऋतु-राज तथा आराम शब्द श्लिष्ट हैं ।

(क) हे ऋतुराज, (अर्थत् वसन्त ऋतु) तुम बड़े उपकारी

हो क्योंकि तुम सारे संसार रूपी आराम (अर्थात् उपवन) को सुसज्जित कर देते हो ।

(ख) हे ऋतु (= समय) के अनुकूल आचरण करनेवाले, धर्मात्मा राजा, तुम सारे जगत को आराम (अर्थात् मुख) देते हो ।

(२) जो रहीम गति दीप को, कुच कपूत गति सोय ।

बारे उजियारो लगे, बड़े अँधेरो होय ॥

अर्थालङ्कार

नोट—प्रायः जितने अर्थालङ्कार है उनमें किसी-न-किसी प्रकार किन्हीं दो या अधिक वस्तुओं में परस्पर सादृश्य या विरोध दिखलाना ही कवि को अभिप्रेत होता है । किन्हीं दो वस्तुओं में समानता बतलाने के लिये चार वस्तुओं की आवश्यकता होती है; (१) जिस वस्तु का वर्णन हो रहा हो (२) जिस वस्तु से उसकी समानता बतलाई जाय (३) वह गुण अथवा कर्म अथवा स्वभाव जो दोनों वस्तुओं में समान हों (४) वे शब्द जिनसे समता का भाव प्रकाशित हो । इन चारों वस्तुओं को क्रम से 'उपमेय' अथवा 'प्रस्तुत', 'उपमान' अथवा 'अप्रस्तुत', 'सामान्य धर्म' तथा 'वाचक शब्द' कहते हैं । उदाहरणार्थ यदि हम कहें "सीता का मुख चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है" तो यहाँ 'मुख' उपमेय है, 'चन्द्रमा' उपमान है, 'उज्ज्वल' सामान्य धर्म है और 'समान' समानता के भाव को सूचित

करनेवाला शब्द है । ध्यान रखना चाहिए कि 'समानता का भाव सूचित करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि इन चारों वस्तुओं का उल्लेख किया जावे; जैसे 'सीता का मुख चन्द्रमा के समान है' यहाँ सामान्य धर्म 'उज्ज्वलता' अथवा 'कान्ति' लुप्त है । अतः समानता का भाव सूचित करने के लिये कहीं तो उपर्युक्त चारों वस्तुएँ प्रगट होती हैं और कहीं-कहीं केवल दो अथवा तीन ही वस्तुएँ प्रगट होती हैं ।

(१) उपमा—जहाँ किन्हीं दो वस्तुओं में पृथक्ता रहते हुए भी उनकी आकृति, रंग अथवा गुण में समानता दिखलाई जाय वहाँ उपमालंकार होता है । उपमा दो प्रकार का होती है ।

(क) पूर्णोपमा—जहाँ समता के भाव को सूचित करने-वाले चारों अंग (उपमेय, उपमान, धर्म, वाचक शब्द) वर्तमान हों ; जैसे,—शशि सो उज्ज्वल तियवदन, परलव से मृदु पानि ।

(ख) लुप्तोपमा—जहाँ उपर्युक्त चारों अंगों में से एक या दो अंग अप्रगट हों जैसे,

'है रघुवर-मुख चन्द्र सो'

यहाँ सामान्य धर्म लुप्त है ।

(नोट—कहीं-कहीं उपमालंकार के तीन अंग भी लुप्त होते हैं, पर ऐसा बहुत कम होता है)

(२) रूपक—जहाँ उपमेय और उपमान में एक रूपता अथवा अभेद दिखाया जाय; जैसे,—

प्रात प्रातकृत करि रघुराई । तीरथराजु दीख प्रमु जाई ॥
सचिव सत्य, श्रद्धा प्रिय नारी । माधव सरिस मीसु हितकारी ॥
चारि पदारथ भरा भँडारू । पुन्य प्रदेश देस अति चारू ॥
छेत्रु अगम गढु गाढ सुहावा । सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा ॥
संगमु-सिहासन सुठि सोहा । छत्रु अषयवट मुनिमनु मोहा ॥
चवँर जमुन अरु गंग-तरंगा । देखि होहि दुख दारिद भंगा ॥

(३) उत्प्रेक्षा—इस अलंकार में उपमेय के अनुरूप कल्पना-शक्ति द्वारा कोई उपमान कल्पित किया जाता है और उपमान से भिन्न जानते हुए भी उपमेय में उपमान की संभावना की जाती है । इस अलंकार में प्रायः जनु, मनु, मानो, मनहु, मेरे जान, आदि वाचक शब्द आते हैं । इसके तीन भेद हैं,

(क) वस्तुत्प्रेक्षा—जहाँ उपमेय के अनुरूप बलपूर्वक कोई उपमान कल्पित किया जाय; जैसे,—

सतानंद सिष सुनि पायँ परि पहिराई माल,
सिय-पिय-हिय सोहत सो भई है ॥
मानस तें निकसि बिसालु सु-तमाल पर,
मानहुँ मराल-पाँति बैठी ब्रनि गई है ॥

(ख) हेतूत्प्रेक्षा—जो वस्तु जिस वस्तु का कारण नहीं है उसको उसका कारण मानकर कल्पना की जाय; जैसे,—

- (१) संहस किरिन जो सुरज दिपाई । देखि लिलार सो उ छपि जाई ॥
- (२) पावर्क मय ससि स्रवत न आगी । मानहुँ मोहि जानि हतभागी ॥
- (३) मनो चली आँगन कठिन, ताते राते पाँय ॥

(ग) कर्तव्योत्प्रेक्षा—जहाँ जो जिसका फल न हो उसको उसका फल माना जाय अथवा जहाँ जो अभिप्राय न हो उसे अभिप्राय मानकर कल्पना की जाय; जैसे,—

- (१) पुहुप सुगन्ध करहि एहि आसा, मकुहिरकाइ लेइ हम्ह पासा ॥

अर्थात् पुष्प इस अभिप्राय से सुगन्ध करते हैं कि कदाचित् (पद्यावती हमपर सुगन्ध होकर) हमे अपने पास सटा ले ।

- (२) नित्य अन्हात है क्षीरधि मे ससि, तो मुख की समता लहिवे को ।

(४) भ्रान्ति—इस अलंकार में किसी एक वस्तु को भ्रम के कारण कुछ और ही समझने का वर्णन रहता है; जैसे,—

री सखि मोहि बचाय, या मतवारे भ्रमर सों ।

इस्यो चहत मुख आय, भरम भरो बारिज गुनै ॥

(५) संदेह—जहाँ सत्य असत्य का निश्चय न होने के कारण उपमेय का एक वा अनेक उपमानों के रूप में वर्णन किया जाय और यह संशय बना ही रहे कि यह अमुक वस्तु है अथवा अमुक; जैसे,—

दायों हाथ लिये था सुरभित, चित्र-विचित्र सुमन-माला,
टोंगा धनुष, कि कल्पलता पर मनसिज ने भूला डाला !

(६) अपहृति—‘अपहृति’ शब्द का अर्थ है—‘छिपाना’ ।
इस अलङ्कार में किसी व्यक्ति को संतुष्ट करने के लिये कोई
सत्य बात निषेधपूर्वक छिपाई जाती है और कोई मिथ्या बात
सत्य के रूप में दिखाई जाती है; जैसे—

(क) नहि सुधांसु, यह है सखी नभ-गंगा कौ कंज ।

(ख)—शीत के प्रताप सभी सिकुड़े हुए ‘मुकुंद’,

भानु-भगवान अग्नि-कोण में जड़ाते हैं ।

कोहरा नहीं है, यह धूम सलिलानल का,

भानु तापने को आग पानी में लगाते हैं ॥

(७) दृष्टान्तः—इस अलङ्कार में दो वाक्य होते हैं, एक
उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य । दोनों वाक्यों के धर्म
सर्वथा भिन्न होते हैं और परस्पर एक दूसरे के आश्रित भी
नहीं होते । किन्तु फिर भी दोनों वाक्यों में तथा उनके धर्मों में
सादृश्य की झलक दिखलाई पड़ती है । ध्यान रखना चाहिए कि
इस सादृश्य की झलक दिखलाने के लिये किन्हीं वाचक शब्दों
का प्रयोग नहीं किया जाता; जैसे—

पगीं प्रेम नँदलाल के, हमें न भावत जोग ।

मधुप ! राजपद पाय कै, भीख न माँगत लोग ॥

यहाँ इस दोहे का पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य है और उसका धर्म है “योग का अच्छा न लगना” और इस दोहे का उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य है, और उसका धर्म है “भीख का न माँगना” ।

किन्तु बिना किसी वाचक शब्द के ही इन दोनों में सादृश्य की मूलक दिखलाई पड़ती है अर्थात् “कृष्ण के प्रेमियों का योग में विरत होना वैसा ही है जैसा किसी राजा का भीख माँगना” ।

(८) अर्थान्तरणः—जहाँ कोई सामान्य (अर्थात् व्यापक) सिद्धान्त या कथन किसी विशेष (अर्थात् सीमित) सिद्धान्त या कथन से पुष्ट किया जाय अथवा कोई विशेष सिद्धान्त किसी सामान्य सिद्धान्त से पुष्ट किया जाय; जैसे,—

(क) टेढ़ जानि संका सब काहू । बक्र चन्द्रमहि प्रसै न राहू ॥
यहाँ ‘टेढ़ जानि संका सब काहू’ इस सामान्य सिद्धान्त को ‘बक्र चन्द्रमहि प्रसै न राहू’ इस विशेष कथन से पुष्ट किया है ।

(ख) दियौ अभय अमरन, कियौ हर हालाहल पान ।

पर-उपकारन लौं सहैं, कष्ट कहा न महान ?

यहाँ दोहे के पूर्वार्द्ध में दिए हुए विशेष कथन की पुष्टि दोहे उत्तरार्द्ध में दिए हुए सामान्य कथन से होती है ।

(९) अत्युक्ति—जहाँ काव्य में रोचकता लाने के निमित्त कसी की शूरता, सुन्दरता अथवा उदारता आदि का बहुत अधिक

बढ़ाकर मिथ्या वर्णन किया जाय वहाँ अत्युक्ति अलंकार होता है; जैसे,—

सम्पति सुमेर की कुबेर की जो पावै, ताहि
तुरत लुटावत, बिलंब उर धारै ना ।
कहै पदमाकर, सुहेम हय हाथिन के
हलके हजारन के बितर बिचारै ना ॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथराव
पाय गज धोखे कहुँ काहू देइ डारै ना ।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही
गिरि तें, गरे तें, निज गोदतें उतारै ना ॥

(१०) अतिशयोक्ति:—जहाँ चित्त की तीव्र भावनाओं को व्यक्त करने के लिये अथवा किसी की अत्यन्त अधिक सराहना या प्रशंसा करने के लिये कोई अद्भुत बात कही जाय, जो लोक-सीमा के बाहर हो और बहुत बढ़ाकर कही गई हो, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है । जैसे,—

बोध बुधि विधि के कमंडल उठावत ही,
धाक सुरधुनि की घँसी यौँ घट-घट मैं ।
कहै 'रतनाकर' सुरासुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत' लिखे-से चित्रपट मैं ॥

लोकपाल दौरन दसो दिसि हहरि लागे,

हरि लागे हेरन सुषात बर बट मैं ।

त्रसन नदीस लागे, खसन गिरीस लागे,

ईस लागे कसन फनीस कटि-तट मैं ॥

[नोट—अत्युक्ति और अतिशयोक्ति में यह भिन्नता है कि अत्युक्ति में सर्वथा मिथ्या वर्णन होता है पर अतिशयोक्ति में कुछ सत्य का अंश भी रहता है]

संकलन

काव्य-कौस्तुभ

१. कबीरदास

महात्मा कबीरदास का जन्म काशी में संभवतः संवत् १४५६ में हुआ था। कहा जाता है, वे एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, किन्तु नीरू और नीमा नामक जुलाहा-दम्पति के पोष्य पुत्र थे। बाल्यकाल से उनकी हिन्दू धर्म की ओर रुचि थी। उनका अधिकांश समय साधु-संगति में व्यतीत होता था। इसी के परिणाम स्वरूप पढ़ने-लिखने का सुयोग न मिलने पर भी कबीर का सांसारिक अनुभव और ज्ञान बहुत बढ़ गया था। वे थे तो पूरे गृहस्थ—उनके स्त्री-पुत्र थे और वे कपड़ा बुनने का व्यवसाय करते थे—परन्तु उनका जीवन सच्चे साधु की भाँति व्यतीत होता था। वे पूर्ण निस्पृह, त्यागी और आडंबर-विहीन थे। कुछ लोग उन्हें तत्कालीन सूफ़ी फ़कीर शेख तकी का शिष्य बतलाते हैं, परन्तु वास्तव में काशी के प्रसिद्ध वैष्णव महात्मा रामानंद उनके गुरु थे। उनके विचारों का प्रभाव कबीर की कविता पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कबीर-दास ऊपरी दिखाव को नापसंद करते थे, वे—जैसे विचार हों वैसा ही आचरण हो—इस सिद्धान्त को कहने और इसपर चलनेवाले थे। वे स्पष्टवादी भी पूरे थे। इसीसे उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के उन आचारों-व्यवहारों की निन्दा की है जिनको ही धर्म का प्रधान अंग

समझ बैठने के कारण उस काल में भी, आजकल' की भाँति वैमनस्य बढ रहा था। कबीर की कविता में राम, गोविन्द, हरि आदि शब्दों के मिलने के कारण उनके सगुण-उपासक होने का भ्रम हो सकता है, परन्तु वे वास्तव में निर्गुण ब्रह्म के माननेवाले थे। वे ईश्वर की कल्पना को इन्द्रियों की शक्ति से परे समझते थे। साथ ही वे वेद, शास्त्र, पुराण आदि में निरूपित ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण करना अनावश्यक समझते थे। उनका तो कहना था कि 'सो ज्ञानी जो आपु विचारै।'

कबीर वास्तव में समाज-सुधारक थे; वे इतने अधिक प्रभावशाली समाज-सुधारक थे कि अपने जीवन काल में ही उन्होंने एक विस्तृत जनसमुदाय को अपना अनुयायी बना लिया था, जो आज भी 'कबीर पंथी' के नाम से जीवित है। इस वर्ग में अधिकतर ऐसे लोग हैं जो हिन्दुओं के निम्न वर्णों में गिने जाते हैं। जैसा कहा जा चुका है, कबीर स्वयं पढ़े-लिखे तो थे नहीं, इससे उनकी कविता में भाषा और कवित्व पूर्ण उक्तियों की दृष्टि से चमत्कार नहीं है। अपढ़ होने के कारण ही उन्होंने अपने हाथ से अपनी कविता नहीं लिखी। उनके शिष्यों और भक्तों ने ही सुन-सुनकर उसे लिपि-बद्ध किया। इसीसे उसमें भाषा की विभिन्नता मिलती है। कबीर की कविताएँ—रमैनी, साखी और शब्द—इन तीन भागों में विषय के अनुसार विभाजित हैं। इन कविताओं के संग्रहों में बीजक सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह कबीर पंथियों का धर्म-ग्रंथ है। उनकी कविताओं के दो संग्रह 'कबीर वचनावली' और 'कबीर ग्रंथावली' नाम से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

उनकी कविता में या तो नीति विषयक सूक्तियाँ हैं अथवा ईश्वर की

कबीरदास

परोक्ष सत्ता से संबंध रखनेवाली ऐसी उक्तियाँ हैं जिनमें अभिव्यक्त भावना पूर्णतया स्पष्ट नहीं होती। इन्हीं दूसरे वर्ग की कविताओं के कारण उन्हें रहस्यवादी कवि कहा जाता है। कबीर के नीति संबंधी कथन बहुत खरे और ठीक हैं। उनमें से बहुत से तुलसी, रहीम जैसे श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में प्रायः कुछेक शब्दों के हेर फेर के साथ मिलते हैं। कबीर के बहुत से दोहे जनता में लोकांकित या मुहावरो की भाँति प्रचलित हैं। इन दोनों बातों से उनकी लोक-प्रियता अनुमान की जा सकती है। हिन्दी के जिन कवियों का जन-समाज पर अधिक प्रभाव है उनमें तुलसी के बाद कबीर का ही नाम आता है। अस्तु, साधक और सुधारक होते हुए भी कबीर हमारी भाषा के श्रेष्ठ कवि थे—यह निर्विवाद है।

साखी

माया दीपक नर पतँग, भ्रमि-भ्रमि इवै पड़ंत ।

वहै 'कबीर' गुर ग्यान तें, एक-आध उबरंत ॥ १ ॥

'कबीर' निरभै राम जप, जब लागि दीयै बाति ।

घटा बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति ॥ २ ॥

झूटि सकै तौ लूटियौ, रामनाम है लूटि ।

पीछे ही पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि ॥ ३ ॥

लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार ।

कहौ संतौ क्यो पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार ॥ ४ ॥

काव्य-कौस्तुभ

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।
सुब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देखा माहिं ॥ ५ ॥
यह ऐसा संसार है, जैसा सेमल फूल ।
दिन दस के ब्योहार कौं, भूठे रंग न भूल ॥ ६ ॥
'कबीर' कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग ।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यों काँचली भुवंग ॥ ७ ॥
कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास ।
कात्ह परौं भू लेटनौ, ऊपरि जाँमैं घास ॥ ८ ॥
हाड जलै ज्यों लकड़ी, केस जलै ज्यों घास ।
सब तन जलता देखि करि, भया 'कबीर' उदास ॥ ९ ॥
'कबीर' मंदिर लाख का, जड़िया हीरें लाल ।
दिवस चार का पेखना, बिनस जाइगा काल ॥१०॥
'कबीर' मारग अगम है, सब मुनि बैठे थाकि ।
तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की साधि ॥११॥
'कबीर' पढ़ता दूर कर, पुस्तक देइ बहाइ ।
बावन आखर सोध कर, ररै ममैं चित लाइ ॥१२॥
केसन कहा बिगाड़िया, जे मूँड़ौ सौ बार ।
मन कौ काहे न मूँड़िए, जाँमै बिषै बिकार ॥१३॥
तन कौ जोगी सब करै, मन को बिरला कोइ ।
सब सिधि संहजै पाइए, जे मन जोगी होइ ॥१४॥

ऊँचै कुल क्य जनिमियाँ, जे करनी ऊँच न होइ ।
 सोवन कलस सुरा भरा, साधू निदैं सोइ ॥१५॥
 जानि बूझि साँचहि तजै, करै भूठ सों नेह ।
 ताकी संगति रामजी, सुपिनै हू जिनि देहु ॥१६॥
 संत न छाड़ै संतई, कोटिक मिलैं असंत ।
 चंदन भुवँगा बैठिया, तड सीतलता न तजंत ॥१७॥
 दुखिया मूवा दुःख सो, सुखिया सुख कौ भूरि ।
 सदा अनंदी राम के, जिनि सुखदुःख मेले दूरि ॥१८॥
 ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोइ ।
 अपना तन सीतल करै, औरन कौ सुख होइ ॥१९॥
 'कबीर' तू काहे डरै, सिर पर हरि का हाथ ।
 हस्ती चढ़ि नहि डोलिये, कूकर भूकैं लाख ॥२०॥
 जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ ।
 रत्ती घटै न तिल बढ़ै, जौ सिर कूटै कोइ ॥२१॥
 जो ऊगा सो आथवै, फूला सो कुँभिलाइ ।
 जो चढ़िया सो ढहि पढ़ै, जो आया सो जाइ ॥२२॥
 जो पहिरा सो फाटिहै, नाम धरा सो जाइ ।
 'कबीर' सोई तत्त गहु, जो गुरु दिया बताइ ॥२३॥
 पानी केरा बुदबुदा, ऐसी हमरी जात ।
 एक दिना छिप जायँगे, ज्यों तारे परभात ॥२४॥

काव्य-कौस्तुभ

‘कबीर’ यह जग कुछ नहीं, खिन खारा खिन मोठ ।
काल्ह जो बैठा मंडपै, आज मसानै दीठ ॥२५॥

पद

का माँगूँ कुछ थिर न रहाई, देखत नैन चला जग जाई ॥टेक॥
इक-लख पूत सवालख नाती, ता रावन घर दिया नवाती ॥
लंका-सा कोट समंद-सी खाई, ता रावन की खबर न पाई ॥
आवत संग न जात सँगाती, कहा भयो दर बाँधे हाथी ॥
कहै ‘कबीर’ अंत की बारी, हाथ म्हाड़ जैसे चले जुवारी ॥१॥

मन रे हरि भजु हरि भजु हरि भजु भाई ।

जा दिन तेरो कोई नाहीं, ता दिन राम सहाई ॥ टेक ॥

तंत्र न जानूँ मंत्र न जानूँ, जानूँ सुन्दर काया ॥
मीर मलिक छत्र पति राजा, तेभी खाये माया ॥
वेद न जानूँ, भेद न जानूँ, जानूँ एकहि रामा ॥
पंडित-दिसि पछिवारा कीन्हाँ, मुख कीन्हाँ जित नामा ॥
राजा अंबरीस के कारन, चक्र सुदरसन जारै ॥
दास ‘कबीर’ कौ ठाकुर ऐसौ, भगत कौ सरन उबारै ॥२॥

करम गति टारे नाहि टरी ।

मुनि बसिष्ठसे पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी ॥

कबीरदास

सीता-हरन मरन दसरथ को बन में बिपति परी ।
कहँ वह फंद, कहॉ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी ॥
सीया को हरि लैगो रावन सुबरन लंक जरी ।
नीच हाथ हरिचंद बिकाने बलि पाताल धरी ॥
कोटि गाय नित पुत्र करत नृग गिरगिट जोनि परी ।
पांडव जिनके आपु सारथी, तिनपर बिपति परी ॥
दुरजोधन को गरब घटायो, जदुकुल नास करी ।
राहु केतु और भानु चंद्रमा विधि संजोग परी ॥
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो होनी होके रही ॥३॥

२. मलिक मुहम्मद जायसी

कविवर मलिक मुहम्मद का जन्म गाज़ीपुर के किसी गरीब मुसलमान के यहाँ हुआ था। लडकपन में ही उनके माता-पिता मर गए थे, और शीतला की बीमारी में वे एक कान के बहरे तथा एक आँख फूट जाने से काने हो गए थे। वे जायस (जिला रायबरेली) में रहने लगे थे। इसी से जायसी नाम से ही प्रसिद्ध हुए। उन्होंने ९४७ हिजरी (संवत् १५९७) में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'पदमावत' लिखना आरंभ किया था। इससे उनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का अंतिम अश्व या सत्रहवीं का पहला अर्धाश्व निश्चित किया जाता है। वे 'सूफी' थे, तथा बड़े उदार और त्यागी थे। अपने समय के सिद्ध फकीर समझे जाते थे। कहते हैं, तत्कालीन अमेठी (अवध) के राजा को उनका आशीर्वाद से पुत्र-लाभ हुआ था। उक्त राजा जायसी का बहुत सम्मान करता था। जायसी की कब्र अमेठी के राज्य-भवन के सामने आज तक सुरक्षित रहकर इस बात की याद दिलाती है।

जायसी ने दो ग्रंथ रचे (१) पदमावत और (२) अखरावत। पहले में चित्तौड़ के राजा (इतिहास में भीमसी नामसे प्रसिद्ध) रतनसेन और लोक-प्रसिद्ध पतिव्रता पद्मिनी का जीवन-चरित्र वर्णित है। दूसरे में वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर वेदान्त और सूफी सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। ये दोनों ग्रंथ दोहा-चौपाई में ठेठ अवधी भाषा में लिखे गए हैं। जायसी की प्रसिद्धि वास्तव में 'पदमावत' के ही ऊपर निर्भर है। इसमें कवि ने अत्यन्त सहृदयता से हिन्दुओं की एक प्रसिद्ध

कहानी के आवरण में अपने धार्मिक सिद्धान्तों को प्रकट किया है। इसमें मनोहर कथा तो कही ही गई है, और साथ ही उच्चकोटि की कविता के लिये प्रकृति वर्णन, चरित्र-चित्रण, रस और अलंकारों की सुन्दर योजना आदि सभी आवश्यक बातों का समावेश भी हुआ है। इसी से 'रामचरित मानस' के बाद यह अवधी भाषा का सबसे बड़ा, सुन्दर और प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य माना जाता है।

इस पुस्तक में आगे जो अवतरण दिया गया है। वह 'पदमावत' से लिया गया है। इसमें पदमावती (पद्मिनी) के देश सिंहल का बड़ा सुन्दर वर्णन है।

सिंहलद्वीप-वर्णन

सिंहलदीप कथा अब गावों । ओ सो पदमिनि बरनि सुनावों ॥
 निरमल दरपन-भाँति बिसेखा । जो जेहि रूप सो तैसइ देखा ॥
 गन्धबसेन सुगंध नरेसू । सो राजा वह ताकर देसू ॥
 जबहि दीप नियरावा जाई । जनु कैलास नियर भा आई ॥
 घन अमराठ लाग चहुँ पासा । उठा भूमि हुत लागि अकासा ॥
 तरिवर सबै मलयगिरि लाई । भइ जग छाँह रैनि होइ आई ॥
 मलय समीर सोहावन छाहाँ । जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ ॥
 ओही छाँह रैनि होइ आवै । हरियर सबै अकास देखावै ॥
 पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू । दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू ॥
 जेइ वह पाई छाँहँ अनूपा । फिरि नहि आई सहै यह धूपा ॥

अस अमराड सघन घन, बरनि न पारौं अंत ।

फूलै फरै छवौ ऋतु, जानहु सदा बसंत ॥ १ ॥

बसहि पंखि बोलहि बहु भाखा । करहि हुलास देखि कै साखा ॥
 भोर होत बोलहि चुहचूही । बोलहि पाँडुक “एकै तूही” ॥
 सारौं सुआ जो रहचह करहीं । कुरहि परेवा औ करबरहीं ॥
 “पीव पीव” कर लाग पपीहा । “तुही तुही” कर गडुरी जीहा ॥
 “कुहू कुहू” करि कोइलि राखा । औ भिंगराज बोल बहु भाखा ॥
 “दही दही” करि महरि पुकारा । हारिल बिनवै आपन हारा ॥
 कुहुकहि मोर सोहावन लागा । होइ कुराहर बोलहि कागा ॥
 जावत पंखी जगत के भरि बैठे अमराउँ ।

आपनि आपनि भाखा लेहिं दई कर नाउँ ॥ २ ॥

पैग पैग पर कुवाँ वावरी । साजी बैठक और पाँवरी ॥
 और कुंड बहु ठावहि ठाऊँ । सब तीरथ औ तिन्हके नाऊँ ॥
 मानसरोदक बरनौं काहा । भरा समुद-अस अति अवगाहा ॥
 पानि मोति-अस निरमल तासू । अमृत आनि कपूर सुवासू ॥
 लंक दीप कै सिला अनाई । बाँधा सरवर घाट बनाई ॥
 खँड खँड सीढ़ी भई गरेरी । उतरहिं चढ़हिं लोग चहुँ फेरी ॥
 फूला कवैल रहा होइ राता । सहस सहस पखुरिन कर छाता ॥
 चलथहि सीप, मोति उतिराही । चुगहिं हंस औ केलि करारहीं ॥
 खनि पतार पानी तहँ काढ़ा । छीर समुद निकसा हुत बाढ़ा ॥

ऊपर पाल चहूँ दिसि अमृत-फल सब रूख' ।

देखि रूप सरवर कै गै पियास औ भूख ॥३॥'

पानि भरै आवहिं पनिहारी । रूप सुरूप पदमिनी नारी ॥

पदुमगंध तिन्ह अंग बसाहीं । भँवर लागि तिन्हसँग फिराही ॥

लंक-सिंधिनी, सारँगनैनी । हंसगामिनी कोकिलबैनी ॥

आवहिं मुंड सो पाँतिहिपाँती । गवन सोहाइ सु भाँतिहिभाँती ॥

कनक कलस मुखचन्द दिपाहीं । रहस केलि सन आवहि जाही ॥

केस मेघावर सिर ता पाई । चमकहिं दसन बीजु कै नाई ॥

माथे कनक गागरी, आवहिं रूप अनूप ।

जेहि के असि पनिहारी, सो रानी केहि रूप ॥४॥

ताल तलाब बरनि नहिं जाहीं । सूझै वार पार किछु नाहीं ॥

फूले कुमुद सेत उजियारे । मानहुँ उए गगन महँ तारे ॥

उतरहिं मेघ चढ़हि लेइ पानी । चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी ॥

पौरहि पंख सुसंगहि संगी । सेत पीत राते बहुरंगा ॥

चकई चकवा केलि कराहीं । निसिक बिछोह, दिनहि मिलि जाहीं ॥

कुररहि सारस करहिं हुलासा । जीवन मरन सो एकहिं पासा ॥

बोलहिं सोन ठेक बग लेदी । रही अबोल मीन जल-भेदी ॥

नग अमोल तेहि तालहि दिनहि बरहि जस दीप ।

जो मरजिया होइ तहँ सो पावै वह सीप ॥५॥

आस पास बहु अमृत बारी । फरिँ अपूर, होइ रखवारी ॥

नारँग नींबू सुरँग जँभीरा । औ बढाम बहु भेद अँजीरा ॥
 गलगल तुरँज सदाफर फरे । नारँग अति राते रस भरे ॥
 किसिमिस सेब फरे नौ पाता । दारिँ दाख देखि मन राता ॥
 लागि सुहाई हरफाखोरी । उनै रही केरा कै घौरी ॥
 फरे तूत कमरख औ न्योजी । रायकरौँदा बेर चिरौँजी ॥
 संगसरा व छुहारा दीठे । और खजहजा खाटे मीठे ॥
 पानि देहिँ खँडवानी कुवहिँ खौँड बहु मेलि ।
 लागी घरी रहँट कै सीचहिँ अमृत बेलि ॥६॥

३. सूरदास

संवत् १५४० के लगभग (मथुरा-आगरा की सड़क पर स्थित) रुनकता (रेणुकाक्षेत्र) गाँव में महाकवि सूरदास का जन्म हुआ था । कुछ लोग उन्हें सारस्वत ब्राह्मण रामदास का पुत्र कहते हैं, और कुछ महाकवि चंद्रबरदाई का वंशज मानते हैं । इन दूसरे विचारवालों के अनुसार वे ब्रह्मभट्ट ठहरते हैं । वे जन्म से ही अंधे थे अथवा बाद में नेत्रहीन हो गए थे—इसका भी ठीक प्रमाण नहीं मिलता । कुछ लोग बिल्वमंगल के एक स्त्री पर आसक्त हो जाने, और बाद में उसी से अपनी आँखों में सूई चुभवा लेने का आख्यान हमारे उन्हीं सूरदास के विषय में, भूल से, जोड़ लेते हैं । सूरदासजी पहले गऊघाट (मथुरा) में रहकर फुटकल पदों के द्वारा भगवान का गुण-गान करते थे । एक दिन प्रसिद्ध महात्मा महाप्रभु वल्लभाचार्य की दृष्टि उनपर पड़ी और उन्हीं के आदेश से सूरदासजी ने श्रीकृष्ण के लीला-विषयक पद बनाना आरंभ किया । उन पदों की संख्या सवालाख कही जाती है, परन्तु अभी तक उनमें से पाँच-छः हजार के लगभग ही प्राप्त हुए हैं । उनमें यद्यपि श्रीमद्भागवत में वर्णित आख्यान अपने स्वतंत्र ढंग से सूरदास ने गाया है, तथापि उसके दशम-स्कंध में कथित श्रीकृष्ण का चरित्र ही अधिक विस्तार के साथ चित्रित किया है ।

इतने अधिक पदों के निर्माता होने पर भी सूरदास की वृत्ति श्रीकृष्ण की बाललीलाओं के अंकित करने में सबसे अधिक रमी है । इससे उन्होंने भगवान के जन्म से लेकर उनके कंस के द्वारा निमंत्रित होकर मथुरा जाने

तक का ही वर्णन किया है। इस प्रकार वर्णनीय विषय का क्षेत्र सीमित हो जाने से सूरदास ने एक ही विषय, भाव आदि का अनेक प्रकार से बहुधा कई पदों में वर्णन किया है; फिर भी उनके किए हुए वर्णन इतने स्वाभाविक (वास्तविक जीवन से मिलते-जुलते) प्रभावशाली और रोचक हुए हैं कि बार-बार पढ़ने पर भी उससे जी नहीं उबता। बाल्यकाल की विविध दशाओं पर हिन्दी में सूरदास से न तो किसी ने अधिक लिखा है और न बढ़कर ही। वात्सल्य रस के तो वे हमारी भाषा के कवियों के सिरताज हैं। इसी तरह शृंगार—विशेषकर विप्रलंभ शृंगार—पर भी सूरदास ने बहुत ही सुंदर पद लिखे हैं। इस विषय के, उनके 'भ्रमर गीत' के पदों का उपमान डूँढ़ना कठिन ही नहीं, असंभव-सा है।

सूरदास के बनाए हुए उक्त पदों का संग्रह 'सूरसागर' के नाम से विख्यात है। इसके अतिरिक्त उनके बनाए हुए पद-संग्रह, सूरसारावली, साहित्य-लहरी आदि भी कहे जाते हैं, जो उक्त सागर से लेकर भरे हुए कुछ घड़े ही हैं। सूरदास ने ब्रजभाषा में कविता की है। वे 'अष्ट-छाप' नाम से प्रसिद्ध ब्रजभाषा के आठ सर्वश्रेष्ठ भक्त कवियों में शिरोमणि हैं; और हिन्दी के सभी कवियों में, तुलसी के बाद, दूसरे महाकवि हैं। उनको कुछ लोग तो तुलसीदास से भी बढ़कर समझते हैं, परन्तु कवित्व-शक्ति, वर्ण्य-विषय की व्यापकता, भाषा के विविध रूपों पर अधिकार, लोक व्यापकता और प्रभाव आदि में तुलसी सूर से कहीं बढ़कर हैं। फिर भी सूरदास कवियो, भक्तों, संगीतप्रेमियों—सभी के कंठहार हैं। उनसे हमारी भाषा का गौरव है—इसमें संदेह नहीं।

इस संग्रह में प्रायः सभी प्रकार के श्रीकृष्ण से संबंध रखनेवाले

सूरदास

पदों की बानगी 'सूरसागर' से संगृहीत की गई है। ये सागर की बूँद के समान उसकी महत्ता की झलक दिखाने में संभवतः सफल होंगे।

बालकृष्ण

लालन तेरे मुख पर हों वारी ।

बाल-गोपाल लगौ इन नैननि रोगु बलाइ तुम्हारी ॥
लट लटकन मोहन मसि बिँदुका तिलक भाल सुखकारी ।
मनहुँ कमल अलि सावक पंगति उड़त मधुर छवि भारी ॥
लोचन ललित कपोलनि काजर छवि उपजत अधिकारी ।
मुख सनमुख औरै रुचि बाढ़ति हँसत दै दै किलकारी ॥
अरुप दसन कलबल करि बालनि बिधि नहि परति बिचारी ।
निकसति दुति अधरनि के बिच है मानो विधु में बीजु उज्यारी ॥
सुंदरता को पार न पावति रूप देखि महतारी ।
'सूर' सिधु की बूँद भई मिलि मति गति दीठि हमारी ॥१॥

कान्ह कुँवर को कन छेदनो है हाथ सुहारी भेली गुरकी ।
बिधि बिहँसत हर हँसत हेरि हरि जसुमति के धुकधुकी चरकी ॥
रोचन भरिलै देत सींक सों स्रवन निकट अति ही चातुर की ।
कंचन के द्वै दुर मँगाइ लिये कहीं कहा छेदनि आतुर की ॥
लोचन भरि गये दोउ मातन के कनछेदन देखत जिय मुरकी ।
रोवत देखि जननि अकुलानी लिथो तुरत नौवा को घुरकी ॥

हँसत नंदजुवती सब बिहँसी कूमकि चलीं सब भीतर दुरकी ।
 'सूरदास' नँद करत बघाई अति आनँद वाला ब्रजपुर की ॥२॥

सिखवत चलन जसोदा मैया ।

अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया ॥
 कबहुँक सुंदर बदन बिलोकति डर आनँद भरि, लेत बलैया ।
 कबहुँक बल को टेरि बुलावति, इहि आँगन खेलो दोउ भैया ॥
 कबहुँक कुल-देवता मनावति, चिरजीवै मेरो बाल कन्हैया ।
 'सूरदास' प्रभु सब सुखदायक अति प्रताप बालक नँदरैया ॥३॥

कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बढै ।
 सब लरिकन में सुन सुंदर सुत तो श्री अधिक चढै ॥
 जैसे देखि और ब्रज बालक त्यों बल बैस बढै ।
 कंस केसि बक बैरिन के डर अनुदिन अनल डढै ॥
 यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यों-त्यों लियो पढै ।
 अँचवत पै तातो जब लाग्यो रोवत जीभ गढै ॥
 पुनि, पीवत ही कच टकटोवै मूठै जननि रढै ।
 'सूर' निरखि मुख हँसत जसोदा सो सुख मुख न कढै ॥४॥
 मैया कबहि बढैगी चोटी ।

कित्ती बार मोहिं दूध पीवत भई यह अजहूँ है छोटी ॥
 तू जो कहति बल की बेनी ज्यो ह्वै है लॉबी मोटी ।
 कादत गुहत न्हवावत औँछत नागिनि सी भुँइ लोटी ॥

काचो दूध पिवावत पचि-पचि देत न माखन रोटी ।
 'सूर' स्याम चिरजिव दोउ भैया हरि हलधर की जोटी ॥५॥

हरि अपने आगे कछु गावत ।

तनक तनक चरनन सों नाचत मनहीं मनहिं रिक्कावत ॥
 बाँह उँचाय काजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत ।
 कबहुँक बाबा नंद बुलावत कबहुँक घर में आवत ॥
 माखन तनक आपने कर लै तनक बदन में नावत ।
 कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में लवनी लिये खवावत ॥
 दुरि देखत जसुमति यह लीला हरष अनंद बढ़ावत ।
 'सूर' स्याम के बालचरित ये नित देखत मन भावत ॥६॥

पाहुनी करि दै तनक मह्यो ।

हों लागी गृहकाज रसोई जसुमति विनय कह्यो ॥
 आरि करै मनमोहन मेरो अंचल आनि गह्यो ।
 व्याकुल मथत मथनियाँ रीती दधि भवै ढरकि रह्यो ॥
 माखन जात जानि नँदरानी सखियन सम्हरि कह्यो ।
 'सूर' स्याम मुख निरखि मगन भई दुहुनि सकोच सह्यो ॥७॥

सखा सहित गए माखन चोरी ।

देख्यो स्याम गवाच्छ पंथ ह्वै गोपी एक मथति दधि भोरी ॥
 हेरि मथानी धरी माट ते 'माखन' हो उतरात ।

आपुन गई कमोरी मॉगन हरि हू पाई घात ॥
 रैठे सखन सहित घर सूने भाखन दधि सब खाई ।
 छूँछी छौं डि मटुकिया दधि की हँसे सब बाहिर आइ ॥
 आइ गई कर लिये मटुकिया घर ते निकरे ग्वाल ।
 आन्हन कर दधि मुख लपटाने देखि रही नँदलाल ॥
 भुज गहि लियो कान्ह को, बालक भागे ब्रजकी खोरि ।
 'सूरदास' प्रभु ठगि रहि ग्वालिन मनु हरि लियो अँजोरि ॥८॥

रूप-माधुरी

देखु सखी मोहन मन चोरत ।
 नैन कटाच्छ बिलोकनि मधुरी सुभग भृकुटि बिबि मोरत ॥
 चंदन खौरि ललाट स्याम के निरखत अति सुखदाई ।
 मानहु अर्द्धचन्द्रतट अहिनी सुधा चोरावन आई ॥
 मलयज भाल भृकुटि की रेखा कहि उपमा एक आवत ।
 मानो एक सँग गंग जमुन नभ तिरछी धार बहावत ॥
 भृकुटी चारु निरखि ब्रज-सुन्दरि यह मन करत बिचार ।
 'सूरदास' प्रभु सोभा-सागर कोउ न पावत पार ॥९॥

भ्रमर गीत

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी ।
 कैसे रहैं रूप रस रौंची ये बतियाँ सुनि रूखी ॥

अवधि गनत, इकटकमग जोवत तब एती नहि भूँखी ।
 अब इन जोग सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी ॥
 बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी ।
 'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता हैं सूखी ॥१०॥

मुकुति आनि मंदे में मेली ।

समुक्ति सगुन लै चले न ऊधो, या सब तुम्हरे पूँजि अकेली ॥
 कै लै जाहु अनत ही बेचन कै लै जाहु जहाँ बिस-बेली ।
 बाहि लागि को मरै हमारे वृन्दावन पाँयन तर पेली ॥
 सीस धरे घर घर कत डोलत एक मते सब भईं सहेली ।
 'सूर' यहाँ गिरिधरन छबीलो जिनकी भुजा अंस गहि मेली ॥११॥

बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजें ।

तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं बिषम ज्वाल की पुंजें ॥
 वृथा वहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलें अलि गुंजें ।
 पवन, पानि, घनसार, सजीवनि, दधिसुत किरन भानु भईं मुंजें ॥
 ये ऊधो कहियो माधव सों बिरह करद कर मारत लुंजें ।
 'सूरदास' प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजें ॥१२॥

ऊधो, जाहु तुम्हें हम जाने ।

स्याम तुम्हे ह्यौं नाहि पठाये तुम हौ बीच भुलाने ॥
 ब्रजवासिन सों जोग कहत हौ वातहु कहत न जाने ।

बड़ लागै न बिबेक तुम्हारो ऐसे नए अयाने ॥
 हमसों कही लई सो सहि कै जिय • गुनि लेहु अपाने ।
 कहँ अबला कहँ दसा दिगंबर, सँमुख करो पहिचाने ॥
 साँच कहो, तुमको अपनी सौँ बूझति बात निदाने ।
 'सूर' स्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसुकाने ॥१३॥

सँदेसनि मधुवन कूप भरे ।
 जो कोई पथिक गये हैं ह्यॉते फिर नहि अवन करे ॥
 कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वै बीच मरे ।
 अपने नहि पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे ॥
 मसि खूँटी, कागर जल भीजे, सर दौ लागि जरे ? ।
 पाती लिखैं कहो क्योंकरि जो पलक कपाट अरे ॥१४॥

ऊधो इतनी कहियो जाय ।
 अति कृशागत भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ॥
 जल-समूह बरसत अँखियन तें, हूँकत लीने नावँ ।
 जहाँ जहाँ गो दोहन करते ढूँढ़त सोइ सोइ ठावँ ॥
 परति पछार खाय तेहि तेहि थल अति ब्याकुल है दीन ।
 मानहु सूर काढ़ि डारे हैं वारि मध्य तें मीन ॥१५॥

४ गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म राजापुर (बाँदा) में, संवत् १४५४ की श्रावणशुक्ला सप्तमी को हुआ। कुछ लोग उनका जन्म संवत् १५८३ में और कुछ १५८९ में मानते हैं। वे अधिकांश विद्वानों के द्वारा सरयूपारीण दुबे माने जाते हैं। उनके पिता का नाम आत्माराम तथा माता का तुलसी परंपरा से प्रसिद्ध है। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का वियोग हो जाने के कारण उन्हें, रामानंदी संप्रदाय के साधु नरहरिदास (नरहर्यानंद) ने पाला था और उन्हीं के सत्संग से गोस्वामीजी के हृदय में श्रीरामचन्द्र की भक्ति का बीजारोपण हुआ। उन्हीं महात्मा के साथ तुलसीदासजी को भारत-भ्रमण का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और 'गुसाई-चरित' के अनुसार, काशीस्थ प्रसिद्ध विद्वान् शेष सनातन से पंद्रह वर्ष तक वेद, शास्त्र, पुराणादि अध्ययन करने का सुअवसर मिला। कहते हैं, इसके पश्चात् तुलसीदास का विवाह हुआ। वे अपनी पत्नी पर अत्यन्त आसक्त थे और एक बार उसी के कटुवाक्य सुनकर विरक्त भी हो गए। तदनन्तर काशी, अयोध्या और चित्रकूट आदि तीर्थों में अधिकतर रहने लगे। उनका जीवन सादगी ले परिपूर्ण था। राम को परब्रह्म मानकर वे उनकी उपासना करते और अपने उपदेश एवं काव्य के द्वारा औसों को उनकी ओर आकर्षित करते थे। तुलसीदासजी राम को छोड़कर किसी दूसरे की भक्ति नहीं करते थे; इसी अनन्यता के कारण उन्होंने आजीवन रामविषयक कविता ही विविध प्रकार से की। जहाँ कहीं उन्होंने इसके अतिरिक्त कविता की है वहाँ शिव या हनुमान-जैसे राम-भक्तों

का ही गुणगान करने के लिये की है। उनका तो विश्वास था कि 'राम ते अधिक राम कर दासा', इसलिये ऐसी कविता से उनका अनन्य व्रत भंग नहीं होता। कहते हैं उन्हें राम का साक्षात् दर्शन भी हुआ था।

गोस्वामीजी ही हमारी भाषा में ऐसे कवि हैं जिन्होंने अवधी और ब्रज दोनों उपभाषाओं में साधिकार रचना की है। उनके समान शुद्ध काव्य-भाषा अन्य किसी कवि की कृति में नहीं दिखाई पड़ती। उनके समय तक कविता करने की जितनी शैलियाँ थीं उन सबमें गोस्वामीजी ने अद्वितीय रचना की है। इन पद्धतियों में मुख्य है (१) वीरगाथाओं की छप्पय, तोटक आदि छंदों की शैली, (२) कृष्ण-काव्य में व्यवहृत गीत-पद्धति, (३) कवित्त-सवैया आदि की रचना-शैली, (४) नीतिकारों की दोहा-द्वारा सूक्ति-कथन की प्रणाली और (५) प्रेम-गाथाओं की रचनावली, दोहा-चौपाईवाली शैली। इनके अतिरिक्त 'कुंडलिया' और 'बरवै' छंदों द्वारा प्रचुर परिमाण में भी उन्होंने रचना की है।

यद्यपि तुलसीदास ने अपने अन्तःकरण को शान्ति प्रदान करने के उद्देश्य से कविता की है, तथापि उसके द्वारा भक्तों और साहित्यिकों दोनों प्रकार के लोगों को शान्ति तथा आनन्द की प्राप्ति होती है। उनकी रचनाओं को पढ़कर जिस तरह लोग नास्तिक होने से बचे और राम के भक्त हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे, उसी तरह असंख्य सहृदय जन उच्च-कोटि की कविता का सच्चा आनन्द प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं और करेंगे। राम को ईश्वर मानते हुए भी गोस्वामीजी ने भगवान की नर-लीलाओं का चित्रण किया है, और इस चित्रण में उन्होंने मानवजीवन के उन समस्त मार्मिक स्थलों पर असाधारण ढंग से प्रकाश डाला है जिनका संबंध

श्रीरामचंद्र के जीवन से रहा है। उन प्रसंगों पर रचित तुलसी की कविता पढ़ते समय हम मुग्ध हो जाते हैं। तुलसी की कविता की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह किसी विशेष-वर्ग के लोगों को ही उच्छ्वसित करनेवाली नहीं है। वह तो सम्पूर्ण जनसमाज को अलौकिक आनन्द देती है। उसे सुनकर या पढ़कर निरक्षर या साक्षर, सामान्य-ज्ञान-संपन्न या विशेष विद्वत्ता-पूर्ण—सभी श्रेणी के लोग अपनी बुद्धि और सहृदयता के अनुसार समान-अनुपात से आनन्द का अनुभव करते हैं। जैसी लोकप्रिय वह देहाती-जन-समाज में है वैसी ही नागरिकों की पण्डित-मण्डली में।

तुलसीदास के रचे हुए ग्रंथों में काव्य और लोक-व्यापकता दोनों की दृष्टि से 'रामचरित मानस' सर्वश्रेष्ठ है। इसी को बहुधा लोग तुलसीकृत 'रामायण' के नाम से जानते हैं। इसके अतिरिक्त विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, दोहावली, रामसतसई, जानकी-मंगल, पार्वती मंगल, रामलला नहल्लू, वैराग्य संदीपनी, बरवै रामायण, रामाज्ञा, कुंडलिया रामायण आदि भी उनके यश रूपी शरीर को अजर-अमर बनाए हुए हैं। अपने ग्रंथों के द्वारा हिन्दू-धर्म का महत्व प्रतिपादित करके, सांप्रदायिक मत-मतान्तर के कारण हिन्दू-समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचाकर गोस्वामीजी हिन्दुओं के समाज-सुधारकों में अग्रणी हुए। अपने समय में मुसलमान शासकों और साधुओं के प्रभाव से किंकर्तव्य-विमूढ़ जनता को राम की भक्ति का सरल तथा जन-साधारण के उपयुक्त सुलभ मार्ग दिखाकर आप भक्तों के पथ-प्रदर्शक बने, और हृदय पर तुरंत प्रभाव डालनेवाले, स्थायी रूप से अलौकिक विभिन्न काव्यरसों का सुस्वादु चखानेवाले तथा हिन्दी के कवियों के सिरमौर हुए।

इस प्रकार, समाजसुधारक, भक्त और कवि तीनों रूपों में तुलसीदास अभिनन्दनीय है और—कवि की दृष्टि से तो वे हमारी भाषा के कवियों में सर्वश्रेष्ठ है—यह सर्वमान्य निष्कर्ष है।

गोस्वामीजी का निवन-काल श्रावण कृष्ण तृतीया शनिवार, संवत् १६८० है और प्राणत्याग-स्थल अस्सीघाट काशी है।

नारद-मोह

हिम-गिरि-गुहा एक अति पावनि । वह समीप सुरसरो सुहावनि ॥
 आश्रम परम पुनीत सुहावा । देखि देवरिषि मन अतिभावा ॥
 निरखिसैल सरि बिपिन बिभागा । भयेउ रमा-पति-पद अनुरागा ॥
 सुभिरत हरिहि सापगति बाधी । सहज बिमल मन लागि समाधी ॥
 मुनिगति देखि सुरेस डेराना । कामहि बोलि कीन्ह सनमाना ॥
 सहित सहाय जाहु मम हेतू । चलेउ हरिषि हिय जल-चर-केतू ॥
 सुनासीर मन महुँ अस्सि त्रासा । चहत देवरिषि मम पुर बासा ॥
 जे कामी लोलुप जग माहीं । कुटिल काक इव सबहिँ डेराहीं ॥
 दो०—सूख हाड़लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज ।

छीनि लेइ जनि जानि जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज ॥१॥
 तेहि आस्रमहि मदनजबगयेऊ । निज माया बसंत निरमयेऊ ॥
 बुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा । कूजहिँ कोकिल गुंजहि भृंगा ॥
 चली सुहावनि त्रिविध बयारी । काम-कृसानु बढ़ावनि हारी ॥
 रंभादिक सुरनाहि नबीना । सकल असम-सर-कला-प्रबीना ॥

करहि गान बहु तान तरंगा । बहु बिधि क्रीडहिं पानि पतंगा ॥
 देखि सहस्रय मदन हरषाना । कीन्हैसि पुनिप्रपंच बिधि नाना ॥
 कामकला कछु मुनिहि न व्यापी । निज भय डरेउ मनोभव पापी ॥
 सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू । बड़ रखवार रमापति जासू ॥
 दो०—सहित सहाय समीत अति मानि हारि मन मैत ।

गहेसि जाइ मुनिचरन तब कहि सुठि आरत बैन ॥२॥
 भयेउ न नारद मन कछु रोषा । कहि प्रिय-बचन काम परितोषा ॥
 नाइ चरन सिरु आयसु पाई । गयेउ मदन तब सहित सहाई ॥
 मुनि सुसीलता आपनि करनी । सुर-पति-सभा जाइ सब बरनी ॥
 मुनि सबके मन अचरज आवा । मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरुनावा ॥
 तब नारद गवने सिव पाही । जिता काम अहमिति मनमाहीं ॥
 मार-चरित संकरहिं सुनाए । अति प्रिय जानि महेस सिखाए ॥
 बार बार बिनवौं मुनि तोही । जिमि यह कथा सुनायेहु मोही ॥
 तिमिजनि हरिहि सुनायेहु कबहूँ । चलेउ प्रसंग दुरायेहु तबहूँ ॥
 दो०—संभु दोन्ह उपदेस हित नहि नारदहि सुहान ।

भरद्वाज कौतुक सुनहु हरिइच्छा बलवान ॥३॥
 राम कीन्ह चाहहि सोइ होई । करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥
 संभु बचन मुनि मन नहिं भाए । तब बिरंचि के लोक सिधाए ॥
 एक बार करतल बर बीना । गावत हरिगुन गान-प्रबीना ॥
 छीरसिधु गवने मुनिनाथा । जहँबस श्रीनिवास श्रुतिमाथा ॥

हरषि मिलेउ उठि कृपानिकेता । बैठे आसन रिषिहि समेता ॥
 बोले बिहँसि चराचर-राया । बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया ॥
 कामचरित नारद सब भाखे । जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥
 अति प्रचंड रघुपति कै माया । जेहि न मोह अस को जग जाया ॥
 दो०—रुख वदन करि बचन मृदु, बोले श्रीभगवान ।

तुम्हरे सुमिरन ते मिटहि, मोह मार मद मान ॥४॥
 सुनु मुनि मोह होइ मन ताके । ग्यान विराग हृदय नहि जाके ॥
 ब्रह्मचरज-व्रत-रत मतिधीरा । तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा ॥
 नारद कहेउ सहित अभिमाना । कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ॥
 करुनानिधि मन दीख बिचारी । उर अंकुरेउ गर्ब-तरु भारी ॥
 बेगि सो मैं डारिहौं उखारी । पन हमार सेवक-हितकारी ॥
 मुनि कर हित मम कौतुक होई । अवधि उपाय करब मैं सोई ॥
 तब नारद हरिपद सिरु नाई । चले हृदय अहमिति अधिकारै ॥
 श्रीपति निज माया तब प्रेरी । सुनहु कठिन करनी तेहि केरी ॥

बिरचेउ मगु महुँ नगर तेहि, सत जोजन बिस्तार ।

श्री-निवास-पुर तें अधिक रचना विविध प्रकार ॥५॥
 बसहि नगर सुंदर नर-नारी । जनु बहु मनसिज-रति तनुधारी ॥
 तेहि पुर बसै सीलनिधि राजा । अगनित हय-गय सेन-समाजा ॥
 सत-सुरेस-सम बिभव बिलासा । रूप तेज बल नीति निवासा ॥
 विश्वमोहिनी तासु कुमारी । श्री बिमोह जिमु रूप निहारी ॥

सोइ हरि-माया सब-गुन-खानी । सोभा तासु कि जाइ बखानी ॥
करै स्वयंवर सो नृपबाला । आए तहँ अगनित महिपाला ॥
मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ । पुरवासिन्ह सब 'पूछत भयेऊ' ॥
मुनि सब चरित भूप गृह आए । करि पूजा नृप मुनि बैठाए ॥

आनि देखाई नारदहि, भूपति राजकुमारि ।

कहहु नाथ गुन दोष सब, एहिके हृदय बिचारि ॥६॥

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी । बड़ी बार लगि रहे निहारी ॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलाने । हृदय हरष नहिं प्रगट बखाने ॥
जो एहि बरै अमर सोइ होई । समरभूमि तेहि जीत न कोई ॥
सेवहिँ सकल चराचर ताहो । बरै सीलनिधि-कन्या जाही ॥
लच्छन सब बिचारि उर राखे । कछुक बनाइ भूप सन भाखे ॥
सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं । नारद चले सोच मन माहीं ॥
करोँ जाइ सोइ जतन बिचारी । जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी ॥
जप-तप कछु न होइइहि काला । हे विधि मिलै कवन विधिबाला ॥

एहि अवसर चाहिय परम, सोभा रूप बिसाल ।

जो बिलोकि रीभै कुँअरि, तब मेलै जयमाल ॥७॥

हरिसन माँगौँ सुंदरताई । होइहि जात गहरु अति भाई ॥
मोरे हित हरि सम नहीं कोऊ । एहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥
बहु विधि बिनय कीन्हि तेहि काल । प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ॥
प्रभु बिलोकि मुनिनयन जुड़ाने । होइहि काजु हिए हरषाने ॥

अति आरत कहि कथा सुनाई । करहु कृपा करि होहु सहाई ॥
 आपन रूप देहु प्रभु मोही । आन भॉति नहि पावौं श्योही ॥
 जेहि विधिनाथहीइ हित मोरा । करहु सो बेगि दास मैं तोरा ॥
 निज माया-बल देखि बिसाला । हिय हँसि बोले दीनदयाला ॥

जेहि विधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार ।

सोइ हम करव न आन कछु, बचन न मृषा हमार ॥८॥
 कुपथ मॉग रुज-व्याकुल रोगी । वैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥
 एहि विधि हित तुम्हार मैं ठयेऊ । कहि अस अंतरहित प्रभुभयेऊ ॥
 नाया बिबस भए मुनि मूढ़ा । समुझी नहि हरि गिरा निगूढ़ा ॥
 गवने तुरत तहाँ रिषिराई । जहाँ स्वयंवर भूमि बनाई ॥
 निज निज आसन बैठे राजा । बहु बनाव करि सहितसमाजा ॥
 मुनि मन हरष रूप अति मोरे । मोहि तजि आनहि बरिहि नभोरे ॥
 मुनि-हित-कारन कृपानिधाना । दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥
 सो चरित्र लखि काहु न पावा । नारद जानि सबहि सिर नावा ॥

रहे तहाँ दुइ रुद्रगन, ते जानहि सब भेड ।

बिप्रबेष देखत फिरहिं, परम कौतुकी तेड ॥९॥
 जेहि समाज बैठे मुनि जाई । हृदय रूप-अहमिति अधिकारै ॥
 तहँ बैठे महेसगन दोऊ । बिप्रबेष गति लखै न कोऊ ॥
 करहि कूटि नारदहि सुनाई । नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई ॥
 रीमिहि राजकुअरिं छबि देखी । इनहि बरिहि हरि जानि बिसेखी ॥

मुनिहि मोह मन हाथ पराये । हँसहि संभुगन अति सचुपाये ॥
जदपि सुनहि मुनिअटपटि बानी । समुक्ति न परै बुद्धि भ्रम-सानी ॥
काहु न लखा सो चरित बिसेखा । सो सरूप नृपकन्या देखा ॥
मर्कट बदन भयंकर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥

सखी संग लै कुञ्जरि तब, चली जनु राज-मराल ।

देखत फिरै महीप सब, कर-सरोज जयमाल ॥१०॥
जेहि दिशि बैठे नारद फूली । सो दिशि तेहि न बिलोकी भूली ॥
पुनिपुनि मुनि उकसहि अकुलाहीं । देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥
धरि नृपतनु तहँ गयेउ कृपाला । कुञ्जरि हरषि मेलेउ जयमाला ॥
दुलहिन लैगे लच्छि-निवासा । नृप समाज सब भयेउ निरासा ॥
मुनि अति विकल मोह मति नौठी । मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥
तब हरगन बोले मुसुकाई । निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ॥
अस कहि दोउ भागे भय भारी । बदन दीख मुनि बारि निहारी ॥
बेपु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा । तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा ॥

होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ ।

हँसेहु हमहि सो लेहु फल, बहुरि हँसेहु मुनिकोउ ॥११॥
पुनि जल दीख रूप निज पावा । तदपि हृदय संतोष न आवा ॥
फरकत अधर कोप मन माही । सपदि चले कमलापति पाही ॥
दैहौं साप कि मरिहौं जाई । जगत मोरि उपहास कराई ॥
बीचहि पंथ मिले दनुजारी । संग रमा. सोइ राजकुमारी ॥

बोले मधुर बचन सुरसाई । मुनि कहँ चले विकल की नाई ॥
 सुनत बचन उपजा अति क्रोधा । मायाबस न रहा मन बोधा ॥
 परसंपदा सकहु नहि देखी । तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी ॥
 मथत सिधु रुद्रहि बौराएहु । सुरन्ह प्रेरि विषपान कराएहु ॥
 असुर सुरा विष संकरहि, आपु रमा मनि चारु ।

स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह, सदा कपट-व्यवहार ॥१२॥
 परम स्वतंत्र न सिर पर कोई । भावै मनहि करहु तुम्ह सोई ॥
 भलेहि मंद मंदेहि भल करहु । बिसमउ हरष नहिअ कछु धरहु ॥
 उहँकि उहँकि परिचेहु सब काहु । अति असंक मन सदा उछाहु ॥
 करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा । अब लागि तुम्हहि न काहु साधा ॥
 भले भवन अब बायन दीन्हा । पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥
 बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा । सोइ तनु धरहु साप मम एहा ॥
 कपि आकृति तुम्ह कोन्ह हमारी । करिहहि कीस सहाय तुम्हारी ॥
 मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । नारि-विरह तुम्ह होब दुखारी ॥
 साप सीस धरि हरषि प्रभु, पुनि बहु विनती कीन्ह ।

निज माया कै प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्ह ॥१३॥
 जब हरि माया दूर निवारी । नहि तहँ रमा न राजकुमारी ॥
 तब मुनि अति समीत हरि चरना । गहे पाहि प्रनतारतिहरना ॥
 मृषा होउ मम साप कृपाला । मम इच्छा यह, दीनदयाला ॥
 मै दुर्बचन कहे बहुतेरे । कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे ॥

जपहु जाइ संकर-सत-नामा । होइहि हृदय तुरत विश्रामा ॥
 कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरे । असि परतीति तजहु जनि भोरे ॥
 जेहि पर कृपा न करहि पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥
 अस डर धरि महि बिचरहु जाई । अब न तुम्हहि माया निअराई ॥

बहु विधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु, तब भए अंतरधान ।

सत्य - लोक नारद चले, करत राम-गुन-गान ॥१४॥

बरवै-विभूति

केस-मुकुत, सखि, मरकत मनिमय होत ।

हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥१॥

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर ।

सोय अंग, सखि, कोमल, कनक कठोर ॥२॥

सिय-मुख सरद-कमल-जिमि किमि कहि जाइ ।

निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ ॥३॥

बड़े नयन, कटि, भ्रुकुटी, भाल बिसाल ।

तुलसी मोहत मनहि मनोहर बाल ॥४॥

चंपक-हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ ।

जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ ॥५॥

सिय, तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत ।

हार बेलि पहिरावौ चंपक होत ॥६॥

x x . x . x

वेद-नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास ।
 पठयो सूपनखाहि लषन के पास ॥७॥
 हेमलता सिय मूरति मृदु मुसुकाइ ।
 हेम हरिन कहँ दीन्हेछ प्रभुहिं देखाइ ॥८॥
 जटा मुकुट कर सर धनु, संग मरोच ।
 चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच ॥९॥

सरस-सवैये

पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये ।
 नवनील कलेवर पीत भँगगा भलकैँ, पुलकैँ नृप गोद लिये ॥
 अरबिद-सो आनन रूप-मरंद अनंदित लोचन-भृंग पिये ।
 मनमों नबस्यौ अस बालकजौ 'तुलसी' जग में फल कौन जिये ॥१॥
 तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरैँ ।
 अति सुंदर सोहत धूरि भरे, छवि भूरि अनंग की दूरि धरैँ ॥
 दमकैँ दँतियाँ दुति दामिनि-ड्योँ, किलकैँ कल बाल-बिनोद करैँ ।
 अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन मंदिर में बिहरैँ ॥२॥
 कबहूँ ससि माँगत आरि करैँ, कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैँ ।
 कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैँ ॥
 कबहूँ रिसिआइ कहँ हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैँ ।
 अवधेस के बालक पारि सदा, तुलसी-मन मंदिर में बिहरैँ ॥३॥

‘तुलसी’ अवलंब न और कछु लरिका केहि भाँति जियाइहौं जू ? ।
 बरु मारिए मोहिं, बिना पग धोएहौं नाथ, न नाव चढ़ाइहौं जू ॥८॥
 रावरे दोष न पाँयँन को, पग-धूरि को भूरि प्रभाउ महा है ।
 पाहन ते बन-वाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है ॥
 पावन पाँय पखारिकै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ? ।
 ‘तुलसी’ सुनि केवट के बरबैनहँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ॥९॥

+ + + +

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच, बिलोकहु, री सखि, मोहिंसी है ।
 मग जोग न, कोमल क्यों चलिहैं ? सकुचात मही पद-पंकज छुँ ॥
 ‘तुलसी’ सुनि प्रामबधू बिथकीं, पुलकी तन औ चले लोचन चवै ।
 सब भाँति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै ॥१०॥
 साँवरे गोरे सलोने सुभाय, मनोहरता जिति मैं लियो है ।
 बान कमान निषंग कसे, सिर सोहै जटा, मुनि बेष कियो है ॥
 संग लिये बिधु-बैनी बधू रति को जेहि रंचक रूप दियो है ।
 पाँयन तौ पनहीं न, पयादेहि क्यों चलिहैं ? सकुचात हियो है ॥११॥
 रानी मैं जानी अजानी महा, पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो है ।
 राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है ॥
 ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है ? ।
 आँखिन मे, सखि, राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बनवास दियो है ॥१२॥

सास जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरोछी-सी भौं हैं ।
 तून सरासन्न बान धरे, 'तुलसी' बन-मारग में सुठि सोहैं ॥
 सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यो हमरो' मन मोहैं ।
 पूछति प्रामबधू सिय सों 'कहौ साँवरे-से, सखि, रावरे को हैं' ? ॥१३॥

सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकी जानी भली ।
 तिरछे करि नैन दै सन तिन्हें समुझाइ कछु मुसुकाइ चली ॥
 'तुलसी' तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली ।
 अनुराग-तड़ाग मे भानु उदै बिगसी मनो मंजुल कंज-कली ॥१४॥

X X X X

पदावली

जो पै हौं मातु-मते महँ हूँ हौं ।

तौ जननी, जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वेहौं ?
 क्यो हौं आजु होत सुचि सपथनि ? कौन मानिहै साँची ?
 महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन वाँची ?
 गहि न जाति रसना काहू की कहौ जाहि जोइ सूझै ।
 दीनबंधु कारुन्य-सिधु विनु कौन हिये की बूझै ।
 'तुलसी' रामबियोग-विषम-विष-बिकल नारि-नर भारी ।
 भरत-सनेह-सुधा सींचे सब भए तेहि समय सुखारी ॥१॥

X X X X

ऐसी मूढ़ता या मन की ।

परिहरि रामभगति-सुरसरिता आस करत ओसकर की ॥
 धूमसमूह निरखि चातक ब्यों तृषित जानि मति घन की ।
 नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥
 ब्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की ।
 दूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की ॥
 कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति मन की ।
 'तुलसिदास' प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥२॥

ऐसो को उदार जग माहीं ?

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम-सरिस कोउ नाहीं ॥
 जो गति जोग विराग जतन करि नहि पावत मुनि ज्ञानी ।
 सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥
 जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहुँ लीन्हीं ।
 सो संपदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥
 'तुलसिदास' सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो ।
 तौ भजु राम, काज सब पूरन करै कृपानिधि तेरो ॥३॥

रघुपति-भगति करत कठिनाई ।

कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई ॥
 जो जेहि कला कुसल ता कहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी ।
 सफरी सनमुख जल-प्रवाह, सुरसरी बहै गज भारी ॥

व्यों सर्करा मिलै सिक्कता महँ बल तें न कोउ बिलगावै ।
 अति रसन्न सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै ॥
 सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी ।
 सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी ॥
 सोक, मोह, भय, हरष, दिवस निसि, देस काल तहँ नार्हीं ।
 'तुलसीदास' यहि दसाहीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥४॥

× × × ×

सब दिन चित्रकूट नीको लागत ।

बरषा ऋतु प्रवेश बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत ॥
 चहुँ दिसि बन संपन्न, विहँग मृग बोलत सोभा पावत ।
 जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ॥
 सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे-सृङ्गनि ।
 मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृङ्गनि ॥
 सिखर परस घन घटहि, मिलति बग पाँति सो छवि कवि बरनी ।
 आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥
 जल-जुत विमल सिलनि झलकत नभ, बन-प्रतिबिब तरंग ।
 मानहुँ जग-रचना विचित्र बिलसति बिराट अँग-अंग ॥
 मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे ।
 'तुलसी' सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम-भगति के पाछे ॥५॥

५ नरोत्तमदास

कविद्वर नरोत्तमदास 'वाड़ी' (जिला सीतापुर-अवध) कस्बा के निवासी थे। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके जन्म और मरण-काल का निश्चय नहीं। 'शिवसिंह-सरोज' नामक हिन्दी के सर्वप्रथम कवि-वृत्त-संग्रह के अनुसार वे संवत् १६०२ में वर्तमान थे। उनके प्रसिद्ध काव्य 'सुदामा-चरित्र' का रचना-काल संवत् १५८२ बतलाया जाता है। इसके अनुसार उनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सत्रहवीं का प्रथम चतुर्थांश निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त नरोत्तमदास के विषय में कुछ विदित नहीं। उक्त 'सुदामा-चरित्र' के अलावा 'ध्रुवचरित्र' और 'विचार-माला'—ये दो और काव्य उनके रचे हुए कहे जाते हैं, परन्तु ये अभी तक प्राप्त नहीं हुए। नरोत्तम की ख्याति केवल 'सुदामा-चरित्र' पर निर्भर है। यह लगभग डेढ़ सौ छंदों का एक छोटा-सा 'खंडकाव्य' है। इसमें श्रीकृष्ण के लड़कपन के साथी और सहपाठी सुदामा के जीवन का उत्तरार्द्ध बहुत ही मार्मिकता और सहृदयतापूर्वक वर्णित है। सुदामा की दीनावस्था की झलक दिखाने के अनन्तर उनके अपनी स्त्री के द्वारा जबरदस्ती द्वारका के नाथ श्रीकृष्ण के पास जाने, श्रीकृष्ण के द्वारा उनके सस्नेह सत्कार और दीनता से उद्धार की अत्यन्त रोचक कहानी इस काव्य में कही गई है। इसमें कवि को मानव-स्वभाव को अकृत्तम, स्वाभाविक रूप में चित्रित करने में असाधारण सफलता मिली है। सुदामा का अपने धनी-मानी मित्र के पास जाने में अपनी गरीबी के कारण संकोच, श्रीकृष्ण-का अपने पुराने बाल-सखा से

बहुत दिनों के पश्चात् मिलने पर निरभिमान-प्रेम-प्रदर्शन, सुदामा का लौटने पर अपनी पुरी में पूर्ण परिवर्तन पाने पर आश्चर्यान्वित होना-आदि का वर्णन ऐसा हुआ है मानो हमारे सामने वास्तविक मूर्तियाँ आती और अपना स्वरूप दिखाकर चली जाती है। इस पुस्तक की रचना ब्रजभाषा में हुई है। इसमें श्रीकृष्ण की दान-वीरता के कारण 'वीररस' का प्राधान्य है, और इसका सहायक 'करुणरस' है। इस रस से तो इस काव्य का प्याला छलक रहा है। 'सुदामाचरित्र' हिंदी के चरित-काव्यों में सबसे प्रसिद्ध और श्रेष्ठ है। इसमें मैत्री-धर्म का अच्छा निदर्शन हुआ है।

इस संग्रह में इसी 'सुदामा-चरित्र' के कुछ अंश दिए गए हैं।

सुदामा का द्वारिका गमन तथा श्री कृष्ण से भेंट

विप्र सुदामा बसत हो, सदा आपने धाम ।

भिच्छा करि भोजन करै, हिये जपै हरिनाम ॥ १ ॥

ताकी घरनी पतिव्रता, गहे वेद की रीति ।

सलज सुसील सुबुद्धि अति, पति-सेवा सों प्रीति ॥ २ ॥

कही सुदामा एक दिन, 'कृष्ण हमारे मित्र' ।

करत रहति उपदेस तिय, ऐसो परम-विचित्र ॥ ३ ॥

स्त्री—

महादानि जिनके हितू, जदु-कुल-कैरव-चंद्र ।

ते दारिद्र-संताप तें, रहैं न-किमि निरद्वंद ॥ ४ ॥

कही सुदामा, वाम, सुनु, वृथा और सब भोग ।
 सत्य-भजन भगवान को, धर्म-सहित जप जोग ॥ ५ ॥
 लोचन-कमल दुख-मोचन तिलक-भाल,
 स्रवननि कुण्डल मुकुट धरे माथ है ।
 ओढ़े पीत बसन गरे मों बैजयंती-माल,
 संख चक्र गदा और पद्म लिए हाथ हैं ॥
 कहत नरोत्तम संदीपन गुरु के पास,
 तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं ॥
 द्वारिका के गये हरि दारिद हरेंगे पिय,
 द्वारिका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं ॥ ६ ॥

सुदामा—

सिच्छक हौं सिगरे जग को, तिय, ताको कहा अब देति है सिच्छा ।
 जे तप कै परलोक सुधारत संपति की तिनके नहिं इच्छा ॥
 मेरे हिये हरि को पद-पंकज बार हजार लै देखु परिच्छा ।
 औरन कौ धन चाहिए बावरि बाँभन कौ धन केवल भिच्छा ॥ ७ ॥

स्त्री—

कोदो सबौं जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौतो ।
 सीत बितीतत जौ सिंसियात तो हौं हठती पै तुम्हें न हठौती ॥
 जौ जननी न हितू हरि सों तो मैं काहे को द्वारिकै पेलि पठौती ।
 या घर तें न गयो कबहूँ पिय, टूटो-तवा अरु फूटो-कठौती ॥ ८ ॥

सुदामा—

छाँड़ि सबै जक तोहि लगी बक आठहु जाम यहै मन टानो ।
जातहि दैहैं लदाय लदा भरि लैहौं लदाय यहै जिय जानी ॥
पैये कहां ते अटारी अटा जिनको विधि दीन्ही है टूटी-सी छानी ।
जो पै दरिद्र लिखो है ललाट तौ काहू पै मेटि न जात अजानी ॥९॥

प्रीति मैं चूक न है उनके हरि मो मिलिहैं उठि कंठ लगाय कै ।
द्वार गए कछु दैहै भलो हमै द्वारिकानाथ जू हैं सब लायकै ॥
या विधि बीति गये पन-द्वै अब तो पहुँचो विरधापन आयकै ।
जीवन केतो है जाके लिये हरि सों अब होहुँ कनावड़ो जाय कै ॥१०॥

स्त्री—

हूजै कनावड़ो बार हजार लौं जो हितू दीनदयाल-सो पाइए ।
तोनहुँ लोक के ठाकुर हैं तिनके दरवार न जात लजाइए ॥
मेरी कही जिय मै धरिके पिय, और न भूलि प्रसंग चलाइए ।
और के द्वार सो काज कहा पिय, द्वारिकानाथके द्वारे सिधाइए ॥११॥

सुदामा—

द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू आठहु जाम यहै जक तेरे ।
जो न कहो करिए तो बड़ो दुख जैये कहां अपनी गति हेरे ॥
द्वार खरे प्रभु के छड़िया तहँ भूपति जान न पावत नेरे ।
पाँच सुपारी तैं देखु बिचारि कै भेंट कौ चारिन चावर मेरे ॥१२॥

यह सुनि कै तब ब्राह्मनी, गई परे सिद्धि ।
 पाव-सेर चाडर लिये, आई सिद्धि-दुख ॥१३॥
 सिद्धि करी बिनती सुमिरि, बाँधि दुपटिया-खूट ।
 माँगत खात चले तहाँ, मारग बाली बूट ॥१४॥
 भाल तिलक घसिकै दियो, गही सुमिरिनी हाथ ।
 देखि दिव्य-द्वारावती, भयो अनाथ सनाथ ॥१५॥
 दीठि चकचौधि गई देखत सुबर्नमई,
 एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं ॥
 पूछे बिन कोऊ कहूँ काहूँ सोँ न करै बात,
 देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं ॥
 देखत सुदामै घाय पौरजन गहे पाँय,
 “कृपा करि कहौ बिप्र कहाँ कोन्हो गौन है ?” ॥
 “धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
 बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं ?” ॥१६॥

द्वारपाल—

सीस पगा न भँगा तन मैं प्रभु, जानै को आहि, बसै केहि ग्रामा ।
 धोती फटी-सी लटी-दुपटी अरु पाँय उपानह की नहिँ सामा ॥
 द्वार खरो द्विज दुर्बल देखि रहो चकि सो बहुधा अभिरामा ।
 मूछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा ॥१७॥

बोल्थो द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँडे' सुनि,
छाँड़े राज-काज ऐसे जी की गति जानै को ? ॥
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुख-साने को ? ॥

नैन दोऊ जल भरि पूँछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्थो "बिपदा मैं मोहि पहिचाने को ? ॥

जैसी तुम कीन्हीं तैसी करै को कृपा के सिधु !

ऐसी प्रीति दीनबन्धु ! दीनन सों मानै को ?" ॥१८॥

भेंटि भली बिधि बिप्र सों, कर गहि त्रिमुवनराय ।

अंतःपुर को लै गए, जहाँ न दूसर जाय ॥ १९ ॥

मनि-मंडित चौकी-कनक, ता ऊपर बैठाय ।

पानी धखो परात मैं, पग-धोवन को लाय ॥ २० ॥

राज-रमनि सोरह-सहस, सह सेवकन स-मीत ।

आठौ पटरानी भई चकित, चितै यह प्रीत ॥ २१ ॥

जिनके चरनन कौ सलिल, हरत जगत-संताप ।

पाँय सुदामा बिप्र कै, धोवत ते हरि आप ॥ २२ ॥

ऐसे बेहाल बेवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोए ।

'हाय ! महादुख पायो सखा, तुम आए इतै न कितै दिन खोए' ॥

देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए ।

पानी परात को हाथ छुयो नहिं, ननन के जल सों पग धोए ॥२३॥

श्रीकृष्ण—

कछु भाभी हमकौँ दियो, सो तुम- काहे न देत ?

चाँपि पोटरौ काँख मै, रहे कहो केहि हेत ॥२४॥

“आगे चना गुरु मातु दए ते लए तुम चाबि हमें नहि दीने ।
स्याम कही मुसुकाय सुदामा सों चोरी की बानि मै हौजू प्रबीने ॥
पोटरौ काँख मै चाँपि रहे तुम खोलत नाहि सुधारस भीने ।
पाछिली-बानि अजौँ न तजी तुम तैसेई भाभी के तंदुल कीने” ॥२५॥

एक मुठी हरि भरि लई, लीनी मुख मे डारि ।

चबत चबाउ करन लगे, चतुरानन त्रिपुरारि ॥२६॥

मुठी दूसरी भरत ही, रुकुमिनि पकरी बाँह ।

ऐसी तुम्हें कहा भई, संपति की अनचाह ॥२७॥

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमनै चित धारी ।
तंदुल खाय मुठी दुइ, दीन कियो तुमने दुइ लोक विहारी ॥
खाइ मुठी तिसरी अब नाथ ! कहाँ निज बास की आस बिचारो ।
रंकहिँ आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी ॥२८॥

श्रीकृष्ण—

भामिनि, देहुँ द्विजै सब लोक तजौ हठ मोरे यहै मन भाई ।
लोक चतुर्दस की सुख-संपति लागति विप्र बिना दुखदाई ॥
जाय बसौँ उनके गृह मैं करिहौँ द्विज-दंपति की सेवकाई ।
तो मन माहिँ रुचै न रुचै सो रुचै हमें तो वह ठौर सदाई ॥२९॥

६ रहीम

अब्दुरहीम खानखाना का जन्म संवत् १६१० में हुआ था। वे हुमायूँ के प्रसिद्ध सेनापति बैरम खाँ के पुत्र और सम्राट् अकबर के मौसरे भाई थे। वे अकबरी दरबार के प्रसिद्ध नव-रत्नों में से थे और अकबर एवं जहाँगीर दोनों के शासन-काल में राजकीय सेना के अध्यक्ष, जागीरदार, मंसबदार और विश्वस्त राज्य-कर्मचारी थे। वे संस्कृत, फारसी, अरबी और हिंदी के अच्छे विद्वान् तथा कवि भी थे। वे कवियों और विद्वानों के गुण-ग्राहक भी थे। उनका दरबार सदैव ऐसो से भरा रहता था। वे अत्यन्त उदार थे और कवियों को सर्वदा जी खोलकर दान देकर सम्मानित किया करते थे। गोस्वामी तुलसीदास उनके घनिष्ठ प्रेमियों में से थे। रहीम के अनुरोध से ही उन्होंने 'बरवै-रामायण' की सृष्टि की थी—ऐसा कहा जाता है। रहीम सुन्नी मुसलमान थे, परन्तु साथ ही वे श्रीकृष्ण के प्रेमी और भक्त थे। उन्हें राम और रहीम की एकता पर विश्वास था, और वे मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता से मुक्त थे। उनके बनाए हुए ग्रंथों के नाम ये हैं—रहीम सतसई, नगर-शोभा, बरवै नायिका भेद, बरवै, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी, खेट कौतुकजातकम्, दीवान फारसी और वाकैयात बाबरी नामक तुर्की में बाबर के आत्म-चरित का फारसी में अनुवाद। इनमें से सतसई, शृंगार सोरठ और रासपंचाध्यायी अभी सम्पूर्ण नहीं प्राप्त हुए। उनकी कविता के दो संग्रह 'रहीम-रत्नावली' और 'रहिमन-विलास' नाम से सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हें मानव-जीवन का कितना अधिक अनुभव था—यह उनके नीति विषयक

दोहों से विदित होता है। उनकी कविता में भाव-सौष्टव और मार्मिक उक्तियों की उपलब्धि होती है। उनकी हिंदी में अधिकांश रचना ब्रजभाषा और अवधी में है; फिर भी खड़ी बोली में भी उन्होंने कुछ रचना की है। उनकी भाषा सरल, सरस, गठी हुई और प्रभावशाली है। उनके बहुत से दोहे लोकोक्तियों की भाँति हमारे बीच प्रयुक्त होते हैं। रहीम की मृत्यु संवत् १६८२ या ८३ में हुई थी।

प्रस्तुत संग्रह में रहीम की हिन्दी कविता के विविध रूपों की बानगी दी गई है।

नीतिमाला

तैं रहीम मन आपुनो, कीन्हों चारु चकोर ।
 निसि वासर लागो रहै, कृष्णचंद्र की ओर ॥ १ ॥
 अनकीन्हों बातैं करै, सोवत जागै जोय ।
 ताहि सिखाय जगायबो, रहिमन उचित न होय ॥ २ ॥
 एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ।
 रहिमन मूलहि सींचिबो, फूलै फलै अघाय ॥ ३ ॥
 कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाति एक गुन तीन ।
 जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन ॥ ४ ॥
 कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीति ।
 बिपति कसौटी जे कसे, तेही साँचे मीत ॥ ५ ॥

छिमा बड़न को चाहिये, छोटेन को उतपात ।
 का रहीम हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥ ६ ॥
 छोटेन सो सोहैं बड़े, कहि रहीम यह रेख ।
 सहसन को हय बाँधियत, लै दमरी की मेख ॥ ७ ॥
 जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन को मोह ।
 रहिमन मछरी नीर को, तऊ न छाँड़त छोह ॥ ८ ॥
 जे गरीब पर हित करैं, ते रहीम बड़ लोग ।
 कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥ ९ ॥
 जैसी परै सो सहि रहै, कहि रहीम यह देह ।
 धरती पर ही परत है, सीत घाम औ मेह ॥ १० ॥
 जो बड़ेन को लघु कहें, नहि रहीम घटि जाहि ।
 गिरधर मुरलीधर कहे, कछु दुख मानत नाहि ॥ ११ ॥
 जो मरजाद चली सदा, सोई तौ ठहराय ।
 जो जल उमगै पार तें, सो रहीम बहि जाय ॥ १२ ॥
 जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय ।
 बारे उजियारो लगे, बड़े अँधेरो होय ॥ १३ ॥
 जो रहीम गति दीप की, सुत सपूत की सोय ।
 बड़ो उजेरो तेहि रहे, गए अँधेरो होय ॥ १४ ॥
 तरुवर फल नहि खात हैं, सरवर पियहि नपान ।
 कहि रहीम पर काज हित, संपति सँचहि सुजान ॥ १५ ॥

धूर धरत नित सीस पै, कहु रहीम केहि काज ।
 जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो हूँ दूत गजराज ॥१६॥
 पावस देखि रहीम मन, कोइल साधै मौन ।
 अब दादुर वक्ता भए, हमको पूछत कौन ॥१७॥
 प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहौंसमाय ।
 भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाय ॥१८॥
 रन, बन, व्याधि, बिपत्ति में, रहि मन मरै न रोय ।
 जो रच्छक जननी जठर, सो हरि गये कि सोय ॥१९॥
 रहि मन अपन गोत को, सबै चहत उत्साह ।
 मृग उछरत आकाश को, भूमी खनत बराह ॥२०॥
 रहि मन असमय के परे, हित अनहित ह्वै जाय ।
 बधिक बधै मृग बान सों, रुधिरै देत बताय ॥२१॥
 रहि मन अँसुआ नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।
 जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥२२॥
 आउ पियारे मोहना पलक ढाँपि तोहि लेउँ ।
 ना मैं देखौँ और को, ना तोहि देखन देउँ ॥२३॥
 रहि मन पुतरी स्याम, मनहुँ जलज मधुकर लसै ।
 कैधौँ शालिग्राम, रूपे के अरघा धरे ॥२४॥

रहीम

बरवै-विलास

बन्दौं विघन-विनासन, ऋधि-सिधि-ईस ।
निर्मल बुद्धि-प्रकासन, सिमु-ससि-सीस ॥ १ ॥
ध्यावौं सोच-विमोचन, गिरिजा-ईस ।
नागर भरन त्रिलोचन, सुरसरि - सीस ॥ २ ॥
ध्यावौं विपद-विदारन, सुवन - समीर ।
खल-दानव-वन - जारन, प्रिय रघुबीर ॥ ३ ॥
रे मन भज निस बासर, श्रीबलबीर ।
जे बिन जाँचे टारत, जन की पीर ॥ ४ ॥
घन घुमड़े चहुँ ओरन, चमकत बीज ।
पिय प्यारी मिलि भूलत, सावन - तीज ॥ ५ ॥
उमड़ि-उमड़ि घन घुमड़े, दिसि विदिसान ।
सावन दिन मन भावन, करत पयान ॥ ६ ॥
जब ते मोहन बिछुरे, कछु सुधि नाहि ।
रहे प्रान परि पलकनि, दृग मग माहि ॥ ७ ॥
कहियो पथिक सँदेसवा, गहिकै पाय ।
मोहन, तुम बिन तनकहु, रह्यौ न जाय ॥ ८ ॥
भज रे मन नैदनंदन, विपति-विदार ।
गोपी जन - मन - रंजन, परम उदार ॥ ९ ॥

जदपि भई जल - पूरित, छितव सुआस ।
 स्वाति बूँद बिन चातक, मरत पिआस ॥१०॥
 अति-अद्भुत छवि सागर, लेख गत ।
 देखत ही सखि बूड़त, दृग - जलजात ॥११॥

गीत-गोविंद

शरद-निशि निशीथे चाँद की रोशनाई ।
 सघन वन निकुंजे कान्ह वंशी बजाई ॥
 कलित ललित माला बा जवाहिर जड़ा था ।
 चपल चखन वाला चाँदनी मे खड़ा था ॥
 कटि-तट बिच मेला पीत सेला नवेला ।
 अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला ॥
 कठिन कुटिल कारी देख दिलदार जुलफें ।
 अलि, कलित बिहारी आपने जो की कुलफें ॥
 सकल शशिकला को रोशनी हीन लेखौं ।
 अहह ! ब्रजलला को किस तरह फेर देखौं ॥
 ज्वरद बसन वाला गुल-चमन देखता था ।
 मुक मुक मतवाला गावता रेखता था ॥
 श्रुति युग चपला से कुण्डलें भूमते थे ।
 नयन कर तमाशे मस्त है घूमते थे ॥

तरल तरनि सी हैं तीर-सी नोकदारें ।
 अमल कमल-सी हैं दीर्घ हैं दिल विदारें ॥
 मधुर मधुप हेरें माल मस्ती न राखें ।
 बिलसति मन मेरे सुन्दरी श्याम आँखें ॥

७ केशवदास

आचार्य केशवदास का जन्म संवत् १६१२ में हुआ था। वे सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र एवं काशीनाथ के पुत्र थे। उन्हें ओड़छा के राजा रामसिंह के भाई इंद्रजीत सिंह अपना गुरु मानते थे। उन्हीं के आश्रय में रहकर केशवदास ने राजाओ का-सा ठाठबाट का जीवन व्यतीत किया। केशवदास संस्कृत के पंडित और अलंकार तथा काव्य के अन्य अंगों के उद्भट विद्वान् थे। उनके बनाए हुए ग्रंथों में रसिक प्रिया, कवि प्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंह देव चरित्र, जहाँगीर-जस-चंद्रिका और विज्ञान गीता मिल चुकी है। इनके अतिरिक्त रामालंकार मंजरी, रत्नबावनी और नखशिख भी उन्हीं के बनाए कहे जाते हैं। परन्तु ये अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। इन ग्रंथों में 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया' में कवि ने रस और अलंकार आदि का शास्त्रीय ढंग से विवेचन किया है। इन रीति-ग्रंथों की रचना के कारण केशवदास हिंदी के आचार्य कवियों की परंपरा के प्रवर्तक हुए। रामचंद्रिका में बादमीकीय रामायण में वर्णित आख्यान के आधार पर उन्होंने भी श्री रामचंद्र का चरित्र लिखा। यह प्रबन्ध-काव्य है। परन्तु इसमें छंदों के विविध रूप, अलंकारों की योजना और कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पनाओं के कारण चमत्कार प्रदर्शन की रुचि अधिक दिखाई पड़ती है। चरित्र-चित्रण, जीवन के मार्मिक स्थलों का उल्लेख, प्राकृतिक-सौंदर्य का अंकन—आदि प्रबन्ध काव्य के लिये आवश्यक बातों की कमी के कारण रामचंद्रिका को रामचरितमानस के समान लोक-प्रियता नहीं प्राप्त हो सकी। केशवदास को ऐसी कविताओं के लिखने का काफी शौक था

जिनसे चार, पाँच तक अर्थ निकल सकते हैं। इस कारण उन्हें 'कठिन काव्य के प्रेत' कहा जाता है; और कविता के अर्थ की कठिनाई के कारण ही उनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि 'कवि को देन न चहै विदाई, पूछै केशव की कविताई।' 'वीरसिंह देव चरित्र' और 'जहाँगीर जस-चंद्रिका' साधारण कोटि के चरित-काव्य हैं और 'विज्ञान गीता' एक साधारण नाटक।

केशवदास अत्यंत प्रतिभासंपन्न विद्वान् थे। उनकी कल्पनाशक्ति बहुत तीव्र थी। परन्तु उनकी कृतियों में हृदय पर प्रभाव डालने की शक्ति प्रायः नहीं के समान है। हाँ, वे दरबारी कवि थे, इससे उनके राजसी-वर्णन अच्छे हैं। कथोपकथन लिखने में भी केशव पटु हैं। उनकी कविता ब्रज-भाषा में है परन्तु उसपर बुंदेलखंडी और संस्कृत का प्रभाव है। अपनी विद्वत्ता के कारण तुलसी और सूर के बाद हमारे कवियों में उनकी गणना होती है। प्रसिद्ध है कि 'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास'।

इस सग्रह में 'रामचंद्रिका' से कुछ अंश लिया गया है।

सीता-स्वयंवर

खण्ड परशु को शोभिजै सभा मध्य कोदण्ड ।

मानहु शेष अशेषधर धरनहार बरिबंड ॥

शोभित मंचन की अवली गजदंतमयी छवि उज्वल छाई ।
ईस मनो बसुधा में सुधारि सुधाधर-मंडल मंडि जोन्हाई ॥
तामहूँ 'केशवदास' विराजत राजकुमार सबै सुखदाई ।
देवन स्यौं जनु देव सभा सुभ सीय-स्वयंवरु देखन आई ॥

सभा मध्य ~~ए-ए~~ बंदी सुत द्वै शोभहीं ।

सुमति विमति यहि नाम, राजन, को वर्णन करहि ॥

सुमति—को यह निरखत आपनी, पुलकित बाहु विशाल ।

सुरभि स्वयंवर जनु करी, मुकुलित शाख रसाल ॥

विमति—जेहि यश परिमल भक्त, चंचरीक चारण फिरत ।

दिशि विदिशान अनुरक्त, सु तौ मल्लिकापीड-नृप ॥

~~ए-ए~~ परसन मिस कहत, कहौ कौन यह राज ।

शंभु शरासन-गुण करौं, करणालंबित आज ? ॥

विमति—जानहि बुद्धि निधान, मत्स्यराज यहि राज को ।

समर समुद्र समान जानत सब अवगाहि कै ॥

सुमति—अंगराग रंजित रुचिर, भूषण भूषित देह ।

कहत विदूषक सों कछु, सो पुनि को नृप एह ? ॥

विमति—चंदन चित्र तरंग, सिंधुराज यह जानिये ।

बहुत वाहिनी संग, मुकुता-माल विशाल चर ॥

सिगरे राज समाज के, कहे गोत गुण-ग्राम ।

देश स्वभाव प्रभाव भरु, कुल बल विक्रम नाम ॥

कहौ विमति यह टेरि, सकल सभाहि सुनाय कै ।

चहूँ ओर कर फेरि, सबही को समुभाय कै ॥

कोड आजु राज समाज में बल शंभु को धनु कर्षि है ।
 पुनि श्रौण के परिमाण तानि सो चित्त मे अति हर्षि है ॥
 वह राज होइ कि रंक 'केशवदास' सो सुख पाइ है ।
 नृपकन्यका यह तासु के दर पुष्प-मालहि नाइ है ॥
 दिगपालन की भुवपालन की लोकपालन की किन मातु गई च्वै ।
 कत भौंड़ भये उठि आसन तें कहि 'केशव' शंभु शरासन को छै ॥
 अरु काहू चढ़ायो न काहू नवायो न काहू उठायो न आँगुरहू छै ।
 कछु स्वारथ भो न भयो परमारथ आये छै वीर चले वनिता छै ॥

सबही को समझो सबन, बल विक्रम परिमाण ।
 सभा मध्य ताही समय, आये रावण बाण ॥
 बाण—दशकंठ रे, शठ छाँड़ि दे हठ बार बार न बोलिये ।
 अब आजु राज-समाज मे बल साजु चित्त न डोलिये ॥
 गिरिराज ते गुरु जानिये सुरराज को धनु हाथ लै ।
 सुख पाय ताहि चढ़ाय कै घर जाहि रे यश साथ लै ॥

रावण—बल को अखर्व गर्व गंज्यो, जेहि पर्वतारि,
 जीत्यौ है, सुपर्व सर्व भाजे लै लै अंगना ।
 खंडित अखंड आशु कीन्हो है जलेश पाशु,
 चंदन-सी चंद्रिका सों कीन्हीं चंद वंदना ॥
 दंडक में कीन्हीं कालदंड हू को मान खंड,
 मानो कीन्हीं काल ही की कालखंड खंडना ॥

'केशव' कोदंड विषदंड ऐसो खंडै अब,
मेरे भुजदंडन की बड़ी है विडंबना ॥
बाण—बहुत वदन जाके । विविध वचन ताके ।
रावण—बहुभुज युत जोई । सबल कहिय सोई ॥

अति असार भुज भारही, बली होहुगे बाण ? ॥

बाण—मम बाहुन को जगत में, सुनु दसकंठ विधान ॥
हौं जबही जब पूजन जात पितापद पावन पाप-प्रणासी ।
देखि फिरौं तबहीं तब रावण सातो रसातल के जे विलासी ॥
लै अपने भुजदंड अखंड करौं छिति-मंडल छत्र प्रभासी ।
जानै को 'केशव' केतिक बार मैं सेस के सीसन दीन्ह उसासी ॥

रावण—हमहिं तुमहिं नहिं वृष्णिये विक्रम-वाद अखंड ।

अब ही यह कहि देइगो मदन-कदन-कोदंड ॥

बाण—वेगि कह्यौ तब रावण सों अब वेगि चढ़ाउ शरासन को ।
बातैं बनाइ बनाइ कहा कहै छोड़ि दे आसन बासन को ॥
जानत है किधौं जानत नाहिन तू अपने मदनासन को ।
ऐसेहि कैसे मनोरथ पूजत पूजे बिना नपशासन को ॥

रावण—बाण न वात तुम्हें कहि आवै ।

बाण—सोई कहौं जिय तोहि जो भावै ।

रावण—का करिहौं हम योहीं बरेंगे ?

बाण—हैहयराज करी सो करैंगे ।

रावण—भौर ज्यों भँवत भूत बासुकी गणेशयुत,
मानो मकरंद बुंद माल गंगा जल की ।
उड़त पराग पट, नाल सी विशाल बाहु,
कहा कहौं 'केशवदास' शोभा पल-पल की ॥
आयुध सघन सर्व-मंगला समेत शर्व,
पर्वत उठाय गति कीन्ही है कमल की ।
जानत सकल लोक लोकपाल दिगपाल
जानत न बाण बात मेरे बाहु बल की ॥

तजि कै सुरारि । रिस चित्त मारि ॥
दशकण्ठ आनि । धनु छुयो पानि ॥

खण्डित मान भयो सबको नृपमण्डल हारि रह्यो जगती को ।
व्याकुल बाहु निराकुल बुद्धि थक्यो बल-विक्रम लंकपती को ॥
कोटि उपाय किये कहि 'केशव' केहूँ न छाँड़त भूमि रती को
भूरि विभूति प्रभाव सुभावहि ज्यो न चलै चित योग-यती को ॥
धनु अति पुरान लंकेश जानि । यह बात बाण सों कही आनि ।
हौं पलक माहिं लैहौं चढ़ाय । कछु तुमहू तो देखो उठाय ॥

बाण—मेरे गुरु को धनुष यह, सीता मेरी माय ।

दुहू भौंति असमंजसै, बाण चले सुख पाय ॥

रावण—अब सीय लिये बिन हौं न टरौं ।

कहुँ जाहुँ न तौलगि नेम धरौं ॥

जब लौं न सुनों अपने जन को ।

अति आरत शब्द हते तन को ॥

काहू कहुँ सर आसुर माख्यो ।

आरत शब्द अकाश पुकाख्यो ॥

रावण के वह कान पख्यो जब ।

छोड़ि स्वयंवर जात भयो तब ॥



८. रसखानि

रसिकशिरोमणि रसखानि दिल्ली के शाही पठान खानदान के थे । उनका जन्म-काल संवत् १६१५ के आसपास अनुमान किया जाता है । वे श्रीकृष्ण के माधुर्य की ओर आकर्षित होकर संवत् १६४० के लगभग महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के पुत्र और उत्तराधिकारी गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य हुए । उनका चरित्र 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' नामक ग्रंथ में मिलता है । वे बड़े प्रेमी जीव थे और श्रीकृष्ण की सखा भाव से उपासना करते थे । श्रीकृष्ण के प्रेम में सराबोर रसखानि के समान दूसरे कवि कठिनाई से मिलेगे । उनकी रचनाओं में कृष्ण-प्रेम का प्याला लबालब भरा है । उनकी रची हुई पुस्तकों में 'सुजान रसखान' और 'प्रेम-वाटिका' का नामोल्लेख होता है । इनमें प्रेम का जैसा जीता-जागता चित्र देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । मुसलमान होते हुए भी रसखानि की कविता की भाषा टकसाली ब्रजभाषा मानी जाती है । उसमें भाषा-संबंधिनी सफाई चुस्ती और शुद्धता के साथ अनोखी मधुरता है । रसखानि ब्रजभाषा के पूर्ण-पण्डितों (Masters) में अग्रगण्य है । शब्दों का झूठा जाल (शब्दाडंबर) या उनकी तोड़-मरोड़ और अलंकारों का मुलम्मा उनकी कविता में अग्राप्य है । वह प्रसाद गुण, भाव-सरसता और गंभीरता से ओतप्रोत है । इसी से वह सीधे हृदय पर चोट करनेवाली और अलौकिक आनंद देनेवाली है । उनके बहुत से सवैये तो लोगो की जबान पर रखे रहते हैं । अलग छपी हुई होने के अतिरिक्त उनकी ऊपर लिखी हुई दोनो कविता-पुस्तकें 'रसखान और घनानंद' नामक

पुस्तक के अन्तर्गत भी प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका नृत्यकाल संवत् १६८५ के लगभग माना जाता है।

इस संकलन में उनके कुछ चुने हुए सवैये और कवित्त 'सुजान-रसखान' में से संगृहीत हुए हैं।

भव्य-भाव

मानुष हों तो वही 'रसखानि' बसों ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
 जो पशु हों तौ कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँभारन ॥
 पाहन हों तौ वही गिरि को जो धख्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
 जो खग हों तौ बसेरो करौं मिलि कालिदी कूल कदंब की डारन ॥१॥
 या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
 आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं ॥
 'रसखानि' कवौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
 कोटिक हों कलधौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर बारौं ॥२॥
 मोरपखा सिर-ऊपर राखिहों गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
 ओढ़ि पितंबर ल लकुटी बन गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी ॥
 भावतो वोहि मेरो रसखानि सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
 या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी ॥३॥
 गावैं गुनी गनिका गंधर्व और सारद सेस सबै गुन गावत।
 नाम अनंत गनंत गनेस ज्यौं ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावत ॥

जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरंतर जाहि समाधि लगावत ।
 ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत ॥४॥
 सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं ।
 जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं ॥
 नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
 ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥५॥
 शंकर-से सुर जाहि भजैं चतुरानन ध्यान में धर्म बढ़ावैं ।
 नेक हिये मे जो आवत ही रसखान महाजन मूढ़ कहावैं ॥
 जापर सुन्दर देव-बधू नहि वारत प्रान अवार लगावैं ।
 ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥६॥
 धूर भरे अति शोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी ।
 खेलत खात फिरैं अँगना पग पैजनी बाजती पीरी कछोटी ॥
 वा छवि को 'रसखानि' बिलोकत बारत काम कला निज कोटी ।
 काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥७॥
 आयो हुता नियरे 'रसखानि' कहा कहुँ तू न गई वह ठैया ।
 या ब्रज मे सिगरी बनिता सब वारति प्राननि लेत बलैया ॥
 कोऊ न काहू की कानि करै कछु चेटक सो जु कखो जदुरैया ।
 गाइगो तान जमाइगो नेह रिम्माइगो प्रान चराइगो गैया ॥८॥
 सोहत हैं चँदवा सिरमौर के जैसियै सुंदर पाग कसी है ।
 तैसियै गोरज भाल बिराजति जैसी हिये बनमाल लसी है ॥

‘रसखानि’ बिलोकत बौरी भई हग मूँदि कै ग्वालि पुकारि हँसी है ।
खोलि री घूँघट खोलौं कहा वह मूरति नैनन माँझ बसी है ॥९॥

दूध दुह्यो सीरो पखो तातो न जमायो कख्यो,
जामन दयो सो धख्योई धख्योई खटायगो ।
आन हाथ आन पाय सबही के तबही ते,
जबहीं ते ‘रसखानि’ तानन सुनायगो ॥
ब्योंही नर त्योंही नारी तैसीये तरुन वारी,
कहिये कहा री सब ब्रज बिललायगो ।
जानिए न आली यह छोहरा जसोमति को,
बाँसुरी बजायगो कि बिष बगरायगो ॥१०॥
गोरज बिराजै भाल लहलही बनमाल,
आगे गया पाछे ग्वाल गावै मृदुतान री ।
तैसी धुनि बाँसुरी की मधुर-मधुर तैसी,
बंक चितवनि मंद-मंद मुसुकानि री ॥
कदम बिटप के निकट तटनी के आय,
अटा चढ़ि चाहि पीतपट फहरानि री ।
रस बरसावै तन-तपन बुझावै नैन,
प्राननि रिझावै वह आवै रसखानि री ॥११॥
दानो भए नए माँगत दान सुनै जु पै कंस तौ बाँधि के जैहौ ।
रोकत हौ बन में ‘रसखानि’ पसारत हाथ घनौ दुख पैहौ ॥

दूटै छरा बछरादिक गोधन जो धन है सु सबै धन दैही ।
जैहै अभूषन काहु सखी को तो मोल छला के लला न विकैही ॥१२॥

ग्वालन सँग जैबौ न ऐबौ सुगायन-सँग;

हेरि तान गैबौ हाहा नैन फरकत हैं ।

ह्यौं के गज मोती माल बारों गुंजमालन पै,

कुंज-सुधि आए हाय प्रान धरकत हैं ॥

गोधर को गारो सुतौ मोहि लगै प्यारौ कहा

भयो महल सोने को जटित मरकत हैं ।

मंदर तें ऊँचे यह मंदिर हैं द्वारिका के,

ब्रज के खरक मेरे हिये खरकत हैं ॥१३॥

प्रान वही जु रहैं रिफि वापर रूप वही जिहिं वाहि रिभायो ।

सीस वही जिन वे परसे पद अंक वही जिन वा परसायो ॥

दूध वही जु दुहायो रो वाही दही सु सही जो वही ढरकायो ।

और कहाँ लौं कहौं 'रसखानि' री भाव वही जु वही मन भायो ॥१४॥

आपनो सो ढोटा हम सबहीं को जानत हैं,

दोऊ प्रानी सबही के काज नित धावहीं ।

ते तौ 'रसखानि' अब दूर तें तमासो देखैं,

तरनि-तनूजा के निकट नहिं आवहीं ॥

आन दिन बात अनहितुन सों कहौं कहा,

हितू जेऊ आए ते ये लोचन दुरावहीं ।

कहा कहौं आली खाली देत सब ठाली पर,

मेरे बनमाली कौन काली ते छुड़ावहीं ॥१५॥

६ सेनापति

कविवर सेनापति का जन्म संवत् १६४६ के आसपास अनूपशहर (जिला बुलंदशहर) में हुआ था । वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण परशुराम दीक्षित के पौत्र और गंगाधर के पुत्र थे । कदाचित् वे पहले किसी मुसलमान बादशाह के आश्रित थे, परन्तु बाद में संन्यास लेकर वृन्दावन में रहने लगे थे । वे श्रीरामचन्द्र के उपासक थे । श्रीराम वन्दना और लीला से संबंध रखनेवाले बहुत से कवित्त सेनापति ने लिखे हैं, जिनमे उनकी तल्लीनता देखी जाती है । सेनापति के रचे हुए दो ग्रंथ कहे जाते हैं (१) कवित्त रत्नाकर (रचना काल सं० १७०६) और (२) काव्य-कल्पद्रुम । ये दोनों अप्रकाशित हैं । इनकी फुटकल कविताएँ ही यत्रतत्र अन्य काव्य-संग्रहों में मिलती हैं । इनमें कवि की भक्ति-विषयक भावनाओं के अतिरिक्त ऋतुओं पर बड़ी सुन्दर उक्तियाँ देखी जाती हैं । सेनापति प्रकृति का चित्रण करनेवाले हिन्दी के कवियों में विशेष महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं । उनका प्रकृति-निरीक्षण यथावत् और हृदयग्राही है । भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है । श्लेषपूर्ण (दोहरे अर्थवाली) अत्यन्त रमणीय कविताएँ सेनापति के भाषाधिकार को प्रदर्शित करती हैं । उन्हें स्वयं अपनी कविता की महत्ता पर अभिमान था । उनकी यह गर्वोक्ति थी “सेनापति बचन की रचना बिचारि देखो, मूढन को अगम सुगम परबीन को ।” यह अक्षरशः सत्य जान पड़ती है । उन्होंने ब्रजभाषा में कविता की है, जिसमें अनुप्रास, यमक और श्लेष आदि अलंकारों की

अद्भुत छटा दिखलाई पड़ती है। साथ ही उसमें बनावटीपन नहीं दिखाई पड़ता। वह अत्यन्त ओजपूर्ण और प्रौढ़ है। 'कवित्तरत्नाकर' के रचना-काल से 'सेनापति' का संवत् १७०६ तक वर्तमान होना निश्चित है।

इस संग्रह में अवतरित कविताएँ 'कवित्तरत्नाकर' से ली गई हैं।

ऋतु-वर्णन

लाल लाल टेसू फूलि रहे है बिलास संग,
 स्याम रंग मई मानों मसि मे मिलाए हैं।
 तहाँ मधु-काज आइ बैठे मधुकर-पुञ्ज,
 मलय पवन उपवन बन धाए हैं ॥
 'सेनापति' माघव महीना में पलास तरु,
 देखि-देखि भाव कविता के मन आए हैं।
 आधे अंग सुलगि, सुलगि रहे आधे मानो,
 बिरही-दहन काम कौला परचाए हैं ॥ १ ॥
 वृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै,
 ज्वालन के जाल बिकराल बरसत हैं।
 तचति धरनि, जग भुरत भुरनि, सीरी
 छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है ॥
 सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत,
 घमका बिषम जो न पात खरकत है।

मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू,
 घरी एकु बैठि कहूँ घामैं बितवत है ॥ २ ॥
 दूरि जदुराई 'सेनापति' सुखदाई देखो,
 आई रितु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ ।
 धोर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ,
 दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ ॥
 आई सुधि बर को हिये में आनि खरको,
 सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ ।
 बीति औधि आवन की लाल मन भावन की,
 डग भई बावन की सावन को रतियाँ ॥ ३ ॥
 खंड-खंड सब दिग्-मण्डल जलद सेत,
 'सेनापति' मानो शृंग फटिक-पहार के ।
 अंबर-अडंबर सों घुमड़ि-घुमड़ि छन,
 छिछि कै छछारै छिछि अछिन उछार के ॥
 सलिल सहल, मानो सुधा के महल नभ,
 तूल के पहल किधौं पवन अधार के ।
 पूरब को साजत हैं, रजत-से राजत हैं,
 गग गग गाजत गगन घनकार के ॥ ४ ॥
 सेनापति उनए नए जलद सावन के,
 चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै ।

सोभा सरसाने न बखाने जात कैहूँ भौँति,
 आने हूँ पहार मानो काजर के ढोय कै ॥
 घन सों गगन छप्यो तिमिर सघन भयो,
 देखि न परत मानो रबि गयो खोय कै ।
 चारिमास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
 मेरे जान याही तें रहत हरि सोय कै ॥ ५ ॥
 सिखिर तुषार के बुखार से उखारत है,
 पूस बीते होत सून हाथ पाय ठरि कै ।
 घोस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाय,
 'सेनापति' गई कछू सोचि कै सुमिरि कै ।
 सीत ते सहसकर सहस चरन हूँ कै,
 ऐसे जात भाजि तम आवत है धिरि कै ।
 जौलों कोक कोकी को मिलत तौलों होत राति,
 कोक अध बीच ही तें आवत है फिरि कै ॥ ६ ॥

ललित कवित्त

पावन अधिक सब तीरथ तें जाकी धार,
 जहाँ मरे पापी होत सुरपुर-पति है ।
 देखत ही जाको भलो घाट पहिचानियतु,
 एक रूप बानी जाके पानी को रहति है ॥

बड़ी रज राधै जाके महाधीर तरसत,
 'सेनापति' ठौर ठौर नीके ही बहति है ।
 पाप-परिवार कतलान करिबे को गंगा,
 पुन्नि की असील-तरवारि-सी लसति है ॥ १ ॥

तब की तिहारी हँसि मिलति हिलनि वह,
 देखि जिय जानी हरि वास करि पाये हौ ।
 'सेनापति' अधिक अयानी मै न जानी, तुम
 जेंवत ही ताके अँचवत के पराये हौ ॥

बीतै औधि आरत निपानि को बिसारति हो,
 धारि तन ताड बेगि कहा कित छाप हौ ।
 पहिले तौ तन मोहौ पीछे करि मनु मोहौ,
 प्यारे तुम साँचे मन-मोहन कहाए हौ ॥ २ ॥

१० बिहारीलाल

कहाँकवि बिहारीलाल का जन्म सं० १६६० के आसपास इवालयर के निकटवर्ती बसुआ-गोविंदपुर गाँव में हुआ था। कुछ लोग उन्हें महांकवि केशव का पुत्र मानते हैं। उनका बाल्यकाल उनकी जन्मभूमि (बुंदेलखंड) में व्यतीत हुआ, और यौवन उनकी ससुराल में। वे जयपुर-नरेश मिर्जा जयसिंह के दरबारी कवि थे। उन्हीं के अनुरोध से उन्होंने अपनी प्रसिद्ध 'सतसई' की रचना की। प्रवाद है कि बिहारी को प्रत्येक दोहे के लिये एक अशर्फी पुरस्कार मिलता था। परन्तु उनके दोहे इतने उच्चकोटि के हैं कि उनके लिये एक अशर्फी की भेंट कुछ नहीं मालूम पड़ती। जान पड़ता है, इसी कारण, बिहारी का जी अंतिम दिनों राज-दरबार से ऊब गया था, तभी तो उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी कि—

थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि ।

तुमहू कान्ह मनो भये, आज-कालिह के दानि ॥

बिहारी ने केवल सात सौ से कुछ अधिक दोहों की रचना की है। उनका संग्रह 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है। इतने कम परिमाण में कविता लिखने पर भी वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं। उनकी सतसई इतनी अधिक लोकप्रिय हुई है कि उसपर रामचरित-मानस को छोड़कर हिन्दी के शेष सब ग्रंथों से अधिक टीकाएँ लिखी गई हैं। उसमें अधिकतर श्रृंगार रस की रचना पाई जाती है, परन्तु शांत और भक्ति रसों के साथ ही नीति के जो थोड़े-से दोहे मिलते हैं उनसे बिहारी के सांसारिक अनुभव की व्यापकता का पता चलता है। दोहा-जैसे छोटे-से

छंद में बिहारी ने इतने अधिक भाव भरे हैं कि उनकी कविता के विषय में यह ठीक ही कहा गया है कि—

सृतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर ।

देखत मे छोट लगैं घाव करैं गंभीर ॥

बिहारी के दोहो में अलंकारों का बहुत सुंदर संग्रह हुआ है। उनमें मानवीय स्वभाव का मनोवैज्ञानिक ढंग से मनोरम चित्र देखा जाता है। कवि को संसार के विभिन्न विषयो (जैसे, ज्योतिष, वैद्यक, सभा-चातुर्य, दार्शनिक तत्व, पशु पक्षियों का स्वभाव आदि) का अच्छा ज्ञान था—यह सतसई के दोहों से स्पष्ट विदित होता है।

महाकवि बिहारी ने ब्रजभाषा में कविता की है। उनकी भाषा में अर्थ-गंभीरता अधिक पाई जाती है। इस संग्रह में नीचे उनकी सतसई से चुनकर कुछ अच्छे-अच्छे दोहे दिए जा रहे हैं।

बिहारी-वैभव

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ ।

जा तन की मॉई परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥ १ ॥

कौन भॉति रहिहै विरदु, अब देखिबी, मुरारि ।

बोधे मोसों आइ कै, गीधे गीधहि तारि ॥ २ ॥

जब जब वैसुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाहि ।

आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखें लागति नाहिं ॥ ३ ॥

पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर कै चहुँ पास ।

नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास ॥ ४ ॥

स्त्रीस-मुकुट, कटि-काञ्चनी, कर-मुरली, उर-माल ।
 इहि दानक मो मन सदा बसौ, बिहारी लाल ॥१५॥
 ललन-चलनु सुनि पलनु मे, अँसुवा भूलके आइ ।
 भई लखाइ न सखिनु हूँ भूठेँ हीं जमुहाइ ॥१६॥
 दृग उरभक्त, दूदत कुटुम, जुरत चतुर-चित्त प्रीति ।
 परति गाँठि दुरजन हियेँ; दई, नई यह रीति ॥१७॥
 रनितभृंग घंटावली, ऋरित दान मधु-नीरु ।
 मंद मंद आवतु चलयौ, कुंजरु कुंज-समीरु ॥१८॥
 मोर मुकट की चंद्रिकनु, यौं राजत नंद-नंद ।
 मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद ॥१९॥
 कुटिल अलक छुटि परत मुख बढिगौ इतौ उदोतु ।
 बंक बक्रारी देत ज्यौं, दामु रुपैया होतु ॥२०॥
 नाचि अचानक हीं उठे विनु पावस बन मोर ।
 जानति हौं, नंदित करी यह दिसि नंदकिसोर ॥२१॥
 बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।
 सौंह करै भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाइ ॥२२॥
 कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ ।
 जगतु तपोवन-सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ॥२३॥
 धुरवा होहि न अलि, उठै धुवाँ धरनि-चहुँ कोद ।
 जारत आवत जगत कौं, पावस-प्रथम पयोद ॥२४॥

जद्यपि सुंदर, सुधर, पुनि सगुनौ दीपक-देइ ।
 तऊ प्रकासु करै तितौ, भरियै जितैं सनेह ॥२५॥
 इन दुखिया अँखियानु कौं, सुखु सिरज्योई नॉहि ।
 देखैं बनै न देखतै, अनदेखैं अकुलॉहि ॥२६॥
 को छूट्यौ इहिं जाल परि; कत, कुरंग, अकुलात ।
 ज्यौ ज्यौं सुरभि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरभूत जात ॥२७॥
 सखी सिखावति मान विधि, सैननि बरजति बाल ।
 हरुये कहु मो हिय बसत, सदा बिहारी लाल ॥२८॥
 सघन-कुंज-छाया सुखद, सीतल सुरभि-समीर ।
 मनु है जातु अजौं बहै, वहि जमुना के तीर ॥२९॥
 बिरह-बिथा-जल-परस बिन, बसियतु मो हिय-ताल ।
 कहु जानत जल-थंभ-विधि, दुरजोधन लौं लाल ॥३०॥
 ज्यौ हैहौं त्यौ होँगौ हौं, हरि, अपनी चाल ।
 हठु न करौ, अति कठिनु है, मो तारिबौ, गुपाल ॥३१॥

११ भूषण

कविराज भूषण संवत् १६७० के लगभग कानपुर जिला के तिकवाँ-पुर (त्रिविक्रमपुर) गाँव में पैदा हुए थे । उनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था । उनके अन्य तीन भाई—चिंतामणि, मतिराम और जटाशंकर भी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हो चुके हैं । भूषण का असली नाम क्या था—यह विदित नहीं । यह तो हृदयराम के पुत्र रुद्र का दिया हुआ उपाधि का नाम है और अब इसी नाम से वे अमर हैं । भूषण कई लोगों के आश्रय में रहे, परन्तु अन्त में महाराज छत्रपति शिवाजी के दरबार में जाकर उन्हें उचित सम्मान मिला । उन्होंने उन्हीं के विषय में कविता की, और बड़ी ओजपूर्ण कविता की । शिवाजी के जीवन की विभिन्न घटनाओं का उल्लेख भूषणकृत 'शिवराज-भूषण' नामक ग्रंथ में मिलता है । 'शिवा-बावनी' नाम से प्रसिद्ध संग्रह में भी अत्यंत प्रभावोत्पादक बावन छंदों में शिवाजी की ही प्रशस्ति गाई गई है । भूषण ने अपने को हिन्दुओं के जातीय कवि के रूप में संसार के सामने रखा है । उन्होंने हिन्दू जाति को जगाने के लिये ही कविता की है । उसमें वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है । उसे पढ़कर अब भी हृदय में जोश पैदा हो जाता है ।

भूषण ने ब्रजभाषा में कविता की है । उसमें वीर रस के अनुरूप प्राकृत, बुंदेलखंडी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं के शब्दों की यत्र-तत्र योजना हुई है और कहीं-कहीं तो खड़ी बोली का आजकल का-सा रूप देखने को मिलता है । किन्तु ऐसा प्रायः वहाँ हुआ है जहाँ कवि ने मुसलमानों के मुख से बातचीत करवाई है ।

नीचे भूषण की कविता के कुछ अत्यन्त प्रभावोत्पादक नमूने प्रस्तुत किए जाते हैं —

शिवाष्टक

इंद्र जिमि जभ पर बाढ़व सुअंभ पर,
 रावन सर्दंभ पर रघुकुल-राज है ।
 पौन बारिबाह पर संभु रतिनाह पर,
 ज्यों सहसबाहु पर राम-द्विजराज है ॥
 दावा द्रुम-दंड पर चीता मृग-मुंड पर,
 भूषण बितुंड पर जैसे मृगराज है ।
 तेज तम-अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
 त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज है ॥ १ ॥
 गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर,
 दावा नाग-जूह पर सिंह-खिलज को ।
 दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर,
 दावा सबै पच्छिन के गोल पर बाज को ॥
 भूषण अखंड नवखंड-महि-मंडल मैं,
 तम पर दावा रवि-किरन-समाज को ।
 पूरव पछाँह देस दच्छिन तें उत्तर लौं,
 जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को ॥ २ ॥

साजि चतुरंग सैन अंग में डमंग धरि,
 सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है ।
 भूषन भनंत नाद विहद नगारन के,
 नदी-नद मद गैबरन के रलत है ॥
 ऐल-फैल खेल-भैल खलक में गैल-गैल,
 गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है ।
 तारा-सो तरनि धूरि-धारा में लगत, जिमि
 थारा पर पारा, पारावार यो हलत है ॥ ३ ॥
 बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
 नार्हीं ठहराने राव-राने देस-देस के ।
 नग भहराने ग्राम-नगर पराने, सुनि
 बाजत निसाने सिवराजजू नरेस के ॥
 हाथिन के हौदा डकसाने कुंभ कुंजर के,
 भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के ।
 दल के दरानन तें कमठ करारे फूटे,
 केरा के से पात विहराने फन सेस के ॥ ४ ॥
 ऊंचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
 ऊंचे घोर मंदर के, अंदर रहाती हैं ।
 कंद-मूल भोग करैं कंद-मूल भोग करैं,
 तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं ॥

भूखन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
 बिजन डुलाती ते वै बिजन डुलाती है ।
 भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास;
 नगन जड़ार्तीं ते वै नगन जड़ार्ती हैं ॥५॥
 इंद्र निज हेरत फिरत गज-इंद्र अरु
 इन्द्र को अनुज हेरै दुग्धि-नदीस को ।
 भूषन भनत सुरसरिता को हंस हेरै,
 बिधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को ॥
 साहि-तनै सिवराज, करनी करी है तैं जु,
 होत है अचंभो देव कोटियौ तैंतीस को ।
 पावत न हेरे तेरे जस में हिराने निज,
 गिरि को गिरीस हेरै, गिरिजा गिरीस को ॥६॥
 राखी हिन्दुवानी, हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
 अस्मृति पुरान राखे वेद-बिधि सुनी मै ।
 राखी रजपूती, राजधानी राखी राजन की,
 धरा मैं धरम राख्यो, राख्यो गुन गुनी मैं ॥
 भूषन सुकवि जीति हृद् मरहट्टन की,
 देस-देस कीरति बखानी सब सुनी मैं ।
 साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
 दिल्ली-दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं ॥७॥

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सो, दामिनि पावस मेघ-घटा सों ।
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सो, प्रीति बृद्धी सन्मान महा सो ॥
'भूषन' भूपन सों तरुनी, नलिनी नव पूषन देव-प्रभा सों ।
जाहिर चारिहु और जहान, लसै हिन्दुवान खुमान सिवा सो ॥८॥

छत्रसाल-शस्त्रच्छटा

भुज-भुजगोस की बैसंगिनी भुजंगिनी-सी,
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के ।
बखतर पाखरन बीच धँसि जाति, मीन
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के ॥
रैयाराव चंपति के छत्रसाल महाराज,
भूषन सकै करि बखान को बलन के ? ।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने बीर,
तेरी बरछीने बर छीने हैं खलन के ॥१॥
निकसत म्यान तें मयूखें प्रलै-भानु कैसी,
फारैं तम-तोम-से गयंदन के जाल को ।
लागति लपकि कंठ बैरिन के नागिन-सी,
रुद्रहि रिभावे दै दै मुंडन की माल को ॥
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौ तेरी करवाल को ।
प्रतिभट-कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका-सी किलकि कलेऊदेति काल को ॥२॥

१२ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ल सप्तमी संवत् १९०७ को काशी में हुआ। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास भी हिन्दी के अच्छे कवि थे। हरिश्चन्द्र को नव वर्ष की अवस्था में ही पिता का वियोग सहना पड़ा। वे अतुल सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए थे और उनके ऊपर किसी का अंकुश भी नहीं था। इस कारण उनके चरित्र में स्वच्छन्दता आ गई थी। यद्यपि उनकी शिक्षा की व्यवस्था समुचित नहीं थी तथापि उनमें अलौकिक प्रतिभा थी, जिससे उन्होंने हमारी भाषा के गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में अद्भुत निर्माण कार्य किया। संवत् १९२१ में श्री जगदीश की यात्रा से लौटने पर उन्होंने 'कविवचन सुधा' नामक मासिक-पत्रिका निकाली जो आगे चलकर क्रमशः पाक्षिक और साप्ताहिक हो गई। बाद में यही 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' में परिवर्तित हुई। स्त्री-शिक्षा के लिये भी उन्होंने 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिका निकाली थी। इन पत्रिकाओं के द्वारा भारतेन्दु ने विविध विषयों पर गद्य और पद्य दोनों में स्वयं लिखा और दूसरों से लिखवाया। उन्होंने इस प्रकार उच्च कोटि के कवियों और लेखकों का एक मंडल तैयार किया जिसके द्वारा हिन्दी के विविध क्षेत्रों में नवीन जागृति का सूत्रपात हुआ। हरिश्चन्द्र के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के पहले नाटकों का एक प्रकार से अभाव था। उन्होंने मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के नाटकों द्वारा हिन्दी-साहित्य का भाण्डार भरा। इन नाटकों में सत्यहरिश्चन्द्र, सुद्वाराक्षस, विद्यासुन्दर,

‘वनञ्जय, विजय, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, भारत जननी, पाखण्ड विडम्बन, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, अन्धेर नगरी, चन्द्रावली, कर्पूरमञ्जरी, आदि गहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक हर प्रकार के नाटक, प्रहसन; भाण, नाटिका आदि हैं। हरिश्चन्द्र जी ने गद्य में भी अनेक विषयों—इतिहास, धर्म, परिहास, राजभक्ति, यात्रा आदि पर बहुत सी पुस्तकें लिखीं। उन्होंने आधुनिक गद्य को नए साँचे में ढाला।

“वे सिद्ध वाणी के अत्यन्त सरस हृदय कवि थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से शृंगार रस के ऐसे रसपूर्ण और मार्मिक कवित्त-सवैये निकले जो उनके जीवन-काल में ही चारों ओर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे और दूसरी ओर स्वदेश-प्रेम से भरी हुई उनकी कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र सा फूँकने लगीं”। ❀

भारतेन्दु जैसे उच्चकोटि के कवि थे वैसे ही कवियों के कद्र-दाँ भी। उनके यहाँ कवियों का जमघट सा लगा रहता था। वे कवियों को पुरस्कृत करके सदैव प्रोत्साहित भी किया करते थे। उन्होंने कविता के लिये ब्रजभाषा को ही स्वीकृत किया था, यद्यपि खड़ी बोली में भी उनकी दो एक कविताएँ मिलती हैं। उनकी काव्य-भाषा अत्यंत परिष्कृत और सरस होती थी। उनका गोलोकवास ६ जनवरी सन् १८८५ को हुआ। उनके शोक में भारत के सभी प्रान्तों के विद्वानों ने आँसू बहाए थे। अंग्रेजी, उर्दू, बँगला, गुजराती आदि सभी भाषाओं के पत्रों ने शोक प्रगट किया था। नीचे भारतेन्दु के विभिन्न ग्रंथों से चुने हुए अंश उद्धृत किए जाते हैं।

मंगलाचरण

भरित नेह नव-नीर नित, बरसत सुरस अथोर ।

जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मने मोर ॥ १ ॥

‘कौन है सीस पै?’ ‘चन्दकला’, ‘कहा याको है नाम यही, त्रिपुरारी’ ।

‘हाँ, यही नाम है, भूल गई किमि जानत हूँ तुम, प्रान-पियारी’ ॥

‘नारिहि पूछत, ‘चन्द्रहि नाहि’ कहै ‘विजया, जदि चन्द्र लवारी’ ।

यो गिरिजै छलि गंग छिपावत, ईस हरौ सब पोर तुम्हारी ॥२॥

पाद-प्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु बोझ के मारे ।

हाथ नचाइवे सों नभ में इत के उत टूटि परैं नहिं तारे ॥

देखन सों जरि जाहिं न लोक न खोलत नैन कृपा डर धारे ।

यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत शर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे ॥३॥

(मुद्राराक्षस से)

रसीले सवैये

रोकहि जो तौ अमङ्गल होइ, औ प्रेम नसे जो कहैं पिय जाइए ।

जौ कहैं जाहु न तो प्रभुता, जौ कछु न कहैं तो सनेह नसाइए ॥

जौ ‘हरिचन्द्र’ कहैं तुमरे बिन जीहैं न, तो यह क्यों पतिआइए ?

तासो पयान समैं तुमरे हम का कहै आपै हमैं समझाइए ॥१॥

दीनदयाल कहाइ कै धाइ कै, दीनन सों क्यों सनेह बढ़ायो ?

त्यौं ‘हरिचन्द्र जू’ बेदन में करुनानिधि नाम कहो क्यों गवायो ?

एती रुखाई न चाहिये तापै कृपा करि कै जेहि को अपनायो ।
 ऐसो ही जो पै सुभाव रह्यो तौ गरीबनेवाज क्यो नाम धरायो ॥२॥
 प्रिय प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरन को सब पेखिये का ? ।
 सुख झॉड़ि कै संगम को तुमरे इन तुच्छन को अब लेखिये का ? ।
 'हरिचन्दजू' हीरन को बेवहार कै काचन कों लै परेखिये का ।
 जिन आँखिन मे तुव रूप बस्यौ उन आँखिन सों अब देखिये का ॥३॥

इन दुखियान को न चैन सपनेहूँ मिल्यौ,

तामो सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी ।

प्यारे 'हरिचन्दजू' की बीती जानि अध,

प्राण चाहत चले पै ये तो संग ना समायँगी ॥

दैख्यौ एक बार हू न नैन भरि तोहि,

यातें जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछितायँगी ।

बिना प्राण-प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,

मरे हूँ पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ॥४॥

परिहृत होइ कै कीनो कहा जुपै कृष्ण-कथा सो न नेह ललाम है ।
 कर्मन मै पचि भूल्यो वृथा स्रम ही फल पायो लह्यो न बिराम है ॥
 ग्यान गरूर है धूर सबै हिय मै जुपै नाहि रम्यो घनश्याम है ।
 है धन धाम अराम हराम सो राम बिना सब काम निकाम है ॥५॥
 ऊधो जू, सूधो गहो वह मारग ग्यान की तेरी जहाँ गुदरी है ।
 कोऊ नहीं सिख गानिहै ह्यॉइक श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है ॥

ये ब्रजवाला सबै इक-सी 'हरिचन्द जू' मगडली ही बिगरी' है ।
एक जौ होय तो ज्ञान सिखाइए कूप ही मैं यहाँ भाँग परी है ॥६॥

(प्रेम-माधुरी से)

लोरी

सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन ।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन ।
भई आधी रात, बन सनसनात,
पथ पंछी कोड आवत न जात ।
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहि पावत तरुन हलन ॥
फलमलत् दीप, सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत हाय,
सतरात अंग आलस जनाय,
सनसन लगी सीरी पवन चलन ।
सोए जग के सब नींद घोर,
जागत कामी, चितित, चकोर,
बिरहिन, बिरही, पाहरू, चोर
इन कहँ छन रैनहुँ हाय कल न ॥

(नील देवी से)

कालिन्दी की कमनीयता

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये ।

भुके कूल सो जल-परसन हित मनहुँ सुहाये ॥

किधौ मुकुर मै लखत उभक्ति सब निज-निज सोभा ।

कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥

मनु आतप बारन तीर को, सिमिटि सबै छाये रहत ।

कै हरि सेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत ॥१॥

कहुँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन ।

कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लागि रहि पाँतिन ॥

मनु दृग धारि अनेक, जमुन निरखत ब्रज-सोभा ।

कै उमगे प्रिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा ॥

कै करि कै कर बहु पीय कों, टेरेत निज दिग सोहई ।

कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई ॥२॥

कै पियपद उपमान जानि एहि निज उर धारत ।

कै मुख करि बहु भृङ्गन मिस अस्तुति उच्चारत ॥

कै ब्रज तियगन बदन-कमल की भलकत भाई ।

कै ब्रज हरिपद-परस-हेत कमला बहु आई ॥

कै सात्विक अरु अनुराग दोष, ब्रजमण्डल बगरे फिरत ।

कै जानि लच्छमी-भौन एहि, करि सतधा निज जल धरत ॥३॥

तिन पै जेहि छिन चन्द जोति राका निसि आवति ।
जल मैं मिलि कै नभ-अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तवै उज्जल इक आभा ।
तन मन नैन जुड़ावत लखि सुन्दर सो सोभा ॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै, ताछन जमुना नीर की ।
मिलि अवनि और अम्बर रहत, छवि इकसी नभ तीर की ॥४॥

परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहुँ जल मधि चमकायो ।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द्र जल बसत सुहायो ।
कै तरङ्ग कर मुकुर लिये सोभित छवि छायो ॥
कै रास रमन मैं हरि मुकुट, आभा जल दिखरात है ।
कै जल उर हरि-मूरति बसति, ता-प्रतिबिम्ब लखात है ॥५॥

कबहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल मैं बहु साजत ॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै ।
कै तरङ्ग की डोर हिंडोरन करत कलोलै ॥
कै बाल गुड़ी नभ मैं उड़ी सोहत इत उत धावती ।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती ॥६॥
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल ।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविक्ल ॥

कै कालिन्दी नीर-तरङ्ग जितो उपजावत ।

तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासो धावत ॥

कै 'बहुत रमत चकई चलत, कै फुहार जल उच्छरत ।

कै निसपति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत ॥७॥

कूजत कहुँ कलहंस कहुँ प्रजत पारावत ।

कहुँ कारण्डव उड़त कहुँ जलकुक्कुट धावत ॥

चक्रवाक कहुँ वसत कहुँ बक ध्यान लगावत ।

सुक पिक जल कहुँ पियत कहुँ भ्रमरावलि गावत ॥

कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत ।

जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ॥८॥

कहुँ बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई ।

उज्जल मलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई ॥

पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाये ।

रत्न रासि करि चूर कूल मैं मनु बगराये ।

मनु मुक्त माँग सोभित भरो, श्यामनीर चिकुरन परसि ।

सतगुन छायो कै तीर मै, ब्रज निवास लखि हिय हरसि ॥९॥

(चन्द्रावली से)

१३ श्रीधर पाठक

कविवर श्रीधर पाठक साध बदा चौदस संवत् १९१६ को आगरा जिला के जौंधरी गाँव मे पैदा हुए थे । उनके पिता का नाम पं० लीलाधर था जो बड़े भगवद्भक्त थे । श्रीधर जी की बुद्धि बड़ी तीव्र थी । वे प्रथम श्रेणी में एन्ट्रेंस पास हुए थे । उन्होने भिन्न-भिन्न पदों मे रहकर सम्मान-पूर्वक सरकारी नौकरी की थी । वे अपने काम के करने मे बहुत सावधान रहते थे । उनका स्वभाव सरल और आडंबर-विहीन था । उन्हे स्वच्छता और परिष्कार बहुत पसंद था । इसीसे उनकी कविता मे बहुधा कई संशोधन हुआ करते थे । श्रीधरजी की कविताओ मे अधिकांश अनुवादित हैं । उनमें आंग्ल-कवि गोल्ड स्मिथ के प्रसिद्ध ग्रंथो के अनुवाद-‘एकान्त-वासी योगी’, ‘श्रान्त पथिक’ और ‘ऊजड़ ग्राम’ बहुत प्रसिद्ध है । कालिदास के ‘ऋतुसंहार’ के कुछ अंशों का अनुवाद भी उन्होने अत्यन्त सरस सवैयो मे किया है । पाठक जी प्रकृति के पुजारी थे । उनकी ‘काश्मीर सुषमा’ और ‘देहरादून’ नामक कविताओ मे प्रकृति का बड़ा ही मनोरम चित्रण हुआ है । उनकी अन्य कविता पुस्तको मे ‘गोखले-प्रशस्ति’ और ‘भारत-गीत’ विशेष उल्लेखनीय है । उनकी बहुत सी राष्ट्रीय कविताएँ तो लोगो की ज़बान पर रहती हैं ।

पाठक जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में रचना की है । इन दोनों काव्य-भाषाओं पर कवि का समान अधिकार था; किन्तु ब्रज भाषा में वे जैसी सरसता ला सके है वैसी खड़ी बोली मे नहीं । फिर भी वे खड़ी बोली के आचार्यों मे गिने जाते है । उन्होंने ही पहले पहल खड़ी

बोली रें लम्बी कविताएँ लिखी थी। खड़ी बोली के आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'श्रीधर-सप्तक' शीर्षक कविता में उन्हें हिन्दी भाषा का जयदेव कहा है और लिखा है कि यदि संसार के किसी पदार्थ में अमृत मिल सकता है तो वह श्रीधर की कविता में ही।

प्रस्तुत संग्रह में पाठक जी की कुछ सरस कविताएँ दी जाती हैं जिनसे उनकी कवित्व शक्ति का अनुमान किया जा सकता है।

वर्षा-विभव

वारि फुहार भरे बदरा, सोइ सोहत कुंजर हैं मतवारे ।
 बीजुरी ज्योति धुजा फहरैं, घन-गर्जन सब्द सोई है नगारे ॥
 रोर कौ घोर कौ ओरन छोर, नरेसन की-सी छटा छबि-धारे ।
 कामिनि के मन कौ प्रिय पावस, आयौ, प्रिये, नव मोहिनी डारे ॥१॥
 प्यासे पपीहन के कुल पै, जल-जाचना त्रास-भरी करवावत ।
 वारि के भार नये, उनये, मुकि भूमि छटा अलबेली दिखावत ॥
 बोरि सुधा जल सों बसुधातल, श्रौन मनोहर घोर सुनावत ।
 प्यारी, अहो ! किमि बादल ये, गति मन्द महादल बाँधि के धावत ॥२॥
 नीकी नई तृन घास जमी, मनु नीलम कूटि दिये है बिछाई ।
 त्यो उलहे दल कन्दली के कल चारु चहूँ दिसि देयँ दिखाई ॥
 बीर बहूटिन की अवलीन में लाल लड़ीन की है ललितार्ई ।
 सेत सों भिन्न मनीनु सजी, रमनी-सी बनी अवनी है सुहार्ई ॥३॥
 मेहन की धुनि के सुनिबे कों, सनेह-सने हिय माँहि सुखारे ।
 सोहैं सलोने सरूप सजे, पख चित्रित चंद्रिका चारु सँवारे ॥

श्रीधर पाठक

प्रेम अलिंगन चुंबन मे रतु जोवन के मद में मतवारै॥
 नाचन लागे, प्रिये, मुरवागन वागन मे बन मे अब प्यारे ॥४॥
 बहु बेग बड़े गँदले जल सों, तट रूख उखारि गिरावती हैं ।
 करि घोर कुलाहल व्याकुल है, थल कोर करारन ढावती हैं ॥
 मरजादहिं छाँड़ि चली कुलटा-सम बिभ्रम भौर दिखावती हैं ।
 इतराति, उतावरी, बावरी-सो, सरिता चढ़ि सिधु को धावती हैं ॥५॥
 तृन घास घने कुलहा उलहे, रँग नीले मनोहर मंजु लसैं ।
 मृगतीयन के मुख सों खुतरे, सुथरे दल दूबन के बिलसैं ॥
 द्रुम बल्लिन मे नव पल्लव की कमनीयता देखि हिये हुलसैं ।
 गिरि बिन्ध्य के कानन सुंदर सो, सुठि सोभा समुंदर-से दरसैं ॥६॥
 उत्पल के दल से जिनके, सुठि चंचल नैन बने कजरारे ।
 सो चहुँ ओर ससंकित-से, बिहरैं मृग-यूथ जहाँ अति प्यारे ॥
 ऐसी नदी तट की बन-भूमि, सुहाति मनाहर सो छबि धारे ।
 चित्त मे चितित होत युवा, अति व्याकुल वाके विलोकन हारे ॥७॥
 मैलो, मटीलौ, महा गदलौ, तृन-कीट अनेकन संग लिये ।
 दौरत सर्प-सो दर्प भरौ, गति बक्र-सो कुंडली-चक्र दिये ॥
 भेक को भीर निहारि रही दृग फारि धरै भय भारी हिये ।
 ऐसौ नयौ जल मेघन कौ, थल नीचे कौं जात सुहात, प्रिये, ॥८॥
 पत्र पुष्प बिन देख, कमलनी को मधुकर अब त्याग चले ।
 श्रवन सुखद गुंजित रव करते, उःसुक मन अनुराग भरे ॥

गिरे । नृत्यरत मोरों की चंद्रिका-चक्र पर मूढ़ बड़े ।
नव उत्पल के भ्रम से सत्वर, रस पराग-सुख-आस, धरे ॥९॥

सुन के नव घनघोर हुए गज मद माते ।

बार बार हो मुदित हर्ष चिघार सुनाते ॥

जिनके विशद कपोल विमल उत्पल आभा-धर ।

सो है मद मे सने घने लिपटे है मधुकर ॥१०॥

जिनके उपल नील-उत्पल-निभ,

जलधर-विनत, नवल-घन-चुंबित ।

जिनपर त्यों सब ओर विकल रव,

निर्भर विमल बहैं छवि मंडित ॥

बिलसैं मुदित मयूर नृत्य-रत,

अगनित वृन्द अमित आनन्दित ।

सो मम प्राण प्रिये, पर्वतवर,

करैं चाह युत चित्त उमंगित ॥११॥

अर्जुन, साल, कदम्ब, केतकी के कानन कम्पायमान कर

उनके कुसुमों के सौरभ से होके गर्भित

ऐसा सुखद-समीर मेघ-जल-सीकर से होकर सीतल तर

किस्के मन को करै नहीं उत्सुक औ चिन्तित ? ॥१२॥

फूलि कदम्ब उठे चहुँ ओर, सोई मन कौ मनु मोद प्रकास है ।

ब्यारि चले तें हिलें तरु-डार, सोई मनु आनंद नृत्य बिलास है ॥

काँटेन सों युत केतकी सोहै, सोई रस की मुखियानि सहास है ।
ताप सों मुक्तसिची नव नीर,सो, यों बन भूमि दिखावै हुलास है ॥१३॥

सिर बकुल फूल युत मृदुल मालती माला
विकसित बन कुसुम समेत यूथिका जाला
त्यों मुकुलित नवल कदम्ब ललित छवि वारे
लै कर्नफूल सुठि रचत लगत अति प्यारे
इमि पावस प्रेमी प्रकृत प्रेम रस भीनों
बनि प्रीतम जनु सिगार तियन कौ कीनों ॥१४॥

सुसन्देश

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमञ्जु वीणा बजा रही है ।
सुरों के संगीत की-सी कैसी सुरीली गुञ्जार आ रही है ॥
हरेक स्वर मे नवीनता है, हरेक पद मे प्रवीणता है ।
निराली लय है औ लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है ॥
अलक्ष्य पदों से गत सुनाती, तरल तरानों से मन लुभाती ।
अनूठे अटपट स्वरो मे स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है ॥
कोई पुरन्दर की किकरी है, किधों किसी सुर की सुन्दरी है ।
वियोग-तप्त-सी भोग-मुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है ॥
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है ।
दया है, दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक-बना रही है ॥

भरें गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं मदमस्त गत पै सारे ।
 समस्त ब्रह्माण्ड-भर को मानों दो ढँगलियों पर नचा रही है ॥
 सुनो तो सुन्ने की शक्तिवालो सको तो जा करके कुछ पता लो ।
 है कौन जोगन ये जो गगन मे विचित्र चुलबुल मचारही है ॥

वनाष्टक

प्रेम की मूज सलोनी लता, बिलसैं द्रुम-अङ्गन सों लिपटी ।
 नव-परलव-संग प्रसून खिले, रचैं रंग बिरंगिन चित्र-पटी ॥
 बितपावली बेलें वनावैं वितान, अनेकन एक सों एक सटी ।
 वन-भूमि की ऐसी छबीली छटा, अलि के उर अन्तर आनि अटी ॥१॥
 चारु हिमाचल आँचल में, एक साल विसालन कौ बन है ।
 मृदु-मर्मर-शील भरैं जल-स्रोत हैं, पर्वत-ओट है, निर्जन है ॥
 लिपटे हैं लता द्रुम, गान में लीन, प्रबीन त्रिहंगन कौ गन है ।
 भटक्यो तहाँ रावरौ भूल्यौ फिरै, मद-बावरो सौ अलि को मन है ॥२॥
 कोयल तू कल-बोलनी री, शुक प्यारे हरे-पट-धारे, अहो ।
 भोरी मैना सुनैना रसीलेन को, सो परेवा परेई के प्यारे, अहो ॥
 अहो मोर मचावन-शोरा, चकोरा, पपीहा पिया-रट-वारे अहो ।
 बन के तुम बाँके सदाके धनी, बन जीवन प्राण तिहारे अहो ? ॥३॥
 फिस्ली करैं कनकार कहुँ, फुसकारत साँपिनैं रोस भरी ।
 पट घुग्घू डरावने बोलत बोल, बिलापें बिलार घरी पै घरी ॥

श्रीधर पाठक

कहुँ हूँ कत स्यार हूँ, भूकत ल्यारी, लराई लरैँ लहिलास भरी ॥
 निसि-भीसनै-भावने या मन की, बनवास को वासना नास करी ॥४॥
 बिन्ध्य के वन्य विभाग मे एक, सरोवर स्वच्छ सुहावना है ।
 कमलोंसे भरा, भ्रमरोंसे घिरा, विटपों से सजा, मन-भावना है ॥
 कल हंस स्वतंत्र कलोल करैँ, खग-वृंद का बोल लुभावना है ।
 बहै मन्द-समीर पराग लिये, अनुराग-हिये-हुलसावना है ॥५॥
 जेठ के दारुण आतप से तप के जगतीतल जावै जला ।
 नभमंडल छाया मरुस्थल-सा, दल बाँध कै अंधड़ आवै चला ॥
 जल-हीन जलाशय, व्याकुल हैं पशुपत्नी, प्रचंड है भानुकला ।
 किसी कानन-कुंज के धाम मे, प्यारे करैँ बिसराम चलो तो भला ॥६॥
 काली घटा का घमंड घटा, नभ-मंडल तारका-वृंद खिले ।
 उजियाली निशा, छविशाली दिशा, अति सोहैँ धरातल फूले फले ॥
 निखरे सुथरे बन पन्थ खुले, तरु-पल्लव चन्द्रकला से धुले ।
 वन शारदी-चंद्रिका-चादर ओढ़ैँ, लसैँ समलंकृत कैसे भले ॥७॥
 भारत मे वन पावन तूही, तपस्वियों का तप-आश्रम था ।
 जग-तत्व की खोज मे लग्न जहाँ, ऋषियों ने अभ्रम किया श्रम था ॥
 जब प्राकृत-विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था ।
 महिमा वन-वास की थी तब और, प्रभाव पवित्र अनूपम था ॥८॥

१४ अयोध्यासिंह उपाध्याय

कवि-सन्नाट पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म निज़ामाबाद (आजमगढ़) में वैशाख कृ० ३, सं० १९२२ को हुआ । आप सनाढ्य ब्राह्मण हैं । जन्म होने से ही आपके नाम के साथ 'सिंह' शब्द जुड़ा है । आप अपने जन्म-ग्राम में ही कुछ दिन तक अध्यापक रहे, फिर कानूनगो हुए । अब उस पद से अवसर प्राप्त करके काशीस्थ हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर हैं । आप भारतीय सभ्यता और संस्कृति के समर्थक हैं और बड़े सरल तथा निरभिमान हैं । हिन्दी के वर्तमान कवियों में हरिऔधजी ही ऐसे हैं जो खड़ी बोली और ब्रजभाषा, दोनों में समान रूप से सफलतापूर्वक कविता कर सकते हैं । आपका 'प्रिय प्रवास' खड़ी बोली का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है । उसमें संस्कृत वृत्तों में श्रीकृष्ण के बाल-चरित्र का नवीन ढंग से चित्रण हुआ है । उसमें श्रीकृष्ण लोक-रक्षक रूप में देखे जाते हैं । 'प्रियप्रवास' में वात्सल्य और करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है । उसके अधिकांश स्थल बड़े मार्मिक हैं । उसमें संस्कृत गर्भित हिन्दी का प्रयोग हुआ है, जो कहीं कहीं पर बहुत क्लिष्ट-सी हो गई है । इसके विपरीत प्रचुर परिमाण में बोलचाल की भाषा में भी उपाध्यायजी ने रचना की है । आपके 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' आदि में नित्य के व्यवहार में आनेवाली भाषा में विविध विषयों पर सूक्तियाँ मिलती हैं । मुहावरों से बनी हुई उनमें संकलित कविता हृदय पर तुरन्त प्रभाव डालनेवाली हुई है । मुहावरों का आपसे बढ़कर प्रयोग किसी दूसरे हिन्दी-कवि ने अबतक नहीं

क्रिया । इस प्रकार क्लिष्ट और सरल दोनों प्रकार की कविता हरिऔधजी की ऐसी विशेषता है जो उन्हें हिन्दी के सभी कवियों से उच्च स्थान दिलाती है ।

उपाध्यायजी पहले ब्रजभाषा में ही कविता क्रिया करते थे; बाद में समय की गति देखकर खड़ीबोली की ओर झुके; परन्तु आपका ब्रजभाषा के प्रति अनुराग सदैव बना रहा । आपने 'रसकलस' नामक ग्रंथ में अपनी ब्रजभाषा की विद्वत्ता को प्रदर्शित किया है । आप लकीर के फकीर भी नहीं है । आपने नवीन विषयों की उद्गावना करने की अद्भुत शक्ति है । 'रसकलस' में कितने ही नवीन विषयों पर कवि ने सूक्तियाँ लिखी हैं ।

पं० अयोध्यासिंहजी गद्य के भी अच्छे लेखक हैं । उसमें भी आपने अपनी दोहरी कला दिखाई है । 'ठैठ हिन्दी का ठाठ' में साधारण बोल-चाल की भाषा का प्रयोग किया है, तो 'अधखिला फूल' और 'वेनिस का बाँका' में संस्कृत गर्भित साहित्यिक भाषा का । नीचे हरिऔधजी की खड़ी बोली की दोनों प्रकार की कविताओं के सुन्दर उद्धरण दिए जाते हैं ।

गोचारण से प्रत्यागमन

दिवस का अवसान समीप था,

गगन था कुञ्ज लोहित हो चला ।

तरु-शिखा पर थी अब राजती

कल-निनाद-वृन्द की प्रभा ॥१॥

विपिन-बोच विहंगम-वृन्द का

कल-निनाद समुत्थित था हुआ ।

काव्य-कौस्तुभ

ध्वनिमयी-विविधा-विहगावली

उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी ॥२॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा,

दश-दिशा अनुरंजित हो गई ।

सकल-पादप-पुंज हरीतिमा

अरुणिमा विनिमज्जित-सी हुई ॥३॥

भलकने प्रति केलि-थली लगी

गगन के तल की यह लालिमा ।

सरित औ सर के जल मे पड़ी

अरुणाता अति ही रमणीय थी ॥४॥

अचल-शृंग-समुन्नत जा चढ़ी

किरन पादप-शीश विहारिणी ।

तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला

गगन पश्चिम-मध्य शनैः शनैः ॥५॥

ध्वनिमयी करके गिरि-कन्दरा

कलित-कानन कुंज निकुंज को ।

कणित एक हुआ वर वेणु भी

रविसुता-कल-कूल उसी समै ॥६॥

कियत कालहि में वन-बीधिका

विविध-धेनु विभूषित हो गई ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

धवल-धूसर-वत्स-समूह भी,
समुद्र था जिनके सँग सोहता ॥७॥

गगन के तल गोरज छा गई,
दश-दिशा बहु शब्दमयी हुई ।
विशद-गोकुल के प्रति-गेह में,
बह चला वर-स्रोत विनोद का ॥८॥

श्रुत हुआ स्वर ज्यों कल-वेणु का,
सकल-श्राम समुत्सुक हो उठा ।
हृदय-यंत्र निनादित हो गया,
तुरत ही अनियंत्रित भाव से ॥९॥

इधर गोकुल से जनता कढ़ी,
उमगती अति आनंद में पगी ।
उधर आ पहुँची बल-वीर की,
विपुल-धेनु-विमंडित-मण्डली ॥१०॥

ककुभ-शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे ।
कदन ज्यों करके दिशि-कालिमा,
कमलिनी-पति है नभ राजता ॥११॥

अतसि-पुष्प अलंकृतकारिणी,
सुखवि नील-सरोरुह-वर्द्धिनी ।

नवल-सुन्दर-श्याम-शरीर की,
सजल-नीरद-सी कल-कान्ति थी ॥१२॥

मुदित गोकुल की जन-मण्डली,
जब ब्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी ।
निरखने मुख की छवि यों लगी,
तृषित-चातक ज्यों घन की घटा ॥१३॥

इधर था इस भौंति समा बँधा,
उधर व्योम हुआ कुछ और ही ।
अब न था उसमे रवि राजता,
किरण भी न सुशोभित थी कहीं ॥१४॥

अरुणिमा-जगती-तल-रंजिनी,
वहन थी करती अब कालिमा ।
मलिन थी नव-राग-मयी-दिशा,
अवनि थी तमसावृत हो रही ॥१५॥

कर विदूरित लोचन-लालसा,
नव-पियूष पिलाकर कान को ।
गुणमयी रसना करके गये,
स्वगृह को अब दर्शक-वृन्द भी ॥१६॥

(प्रिय-प्रवास से)

अयोध्यासिंह उपाध्याय

कल्पना कलेजा

मैं ऊब ऊब उठती हूँ,
क्या ऊब नहीं तुम पाते ?

आ करके अपना मुखड़ा
क्यों मुझे नहीं दिखलाते ?

मैं तड़प रही हूँ जितना
किस तरह तुम्हे बतलाऊँ ?

यह मलता हुआ कलेजा
कैसे निकाल दिखलाऊँ ?

जो दर्द देखना चाहो
तो मुझे याद कर रो लो ?

अपने मोती से प्यारे
मेरे मोती को तो लो ?

मेरे सुख की राहों में
दुखड़े काँटे बोते हैं ।

बन गई बाबली इतनी
बन के पत्ते रोते हैं ।

आहें हैं बहुत सताती
दम घुटता ही रहता है,

मेरी आँखों का आँसू
लोहू बन बन बहता है ।

तब जी जाता है छितरा,

हैं सब अरमान कलपते

ये मेरे दिल के छाले

जब है बे-तरह टपकते ।

बेचैन बनी रहती हूँ,

मेरे तन मन हैं हारे,

दिन काट रही हूँ रो रो,

रातों मे गिन गिन तारे ।

है सोच सुन सकूँगी क्या

वे मीठी मीठी बातें ?

फिर दिन वैसे क्या होंगे ?

आयेंगी क्या वे रातें ?

क्या से क्या

चौपदे

मिल रही है न खाट टूटी भी,

चैन, बेचैन बन, न क्यों खोते ।

आज हैं फूट-फूट रोते वे,

जो रहे फूल-सेज पर सोते ॥ १ ॥

आज बेढंग बन गए हैं वे,
 ढंग जिनमें भरे हुए कुल थे ।
 बाँध सकते नहीं कमर भी वे,
 बाँधते जो समुद्र पर पुल थे ॥ २ ॥
 जो रहे आसमान पर चढ़ते,
 आज उनके कतर गये हैं पर ।
 सिर उठाना उन्हें पहाड़ हुआ,
 जो उठाने पहाड़ उँगली पर ॥ ३ ॥
 हैं रहे डूब वे गड़हियों में,
 बेतरह बार-बार खा घोखा ।
 सुखता था समुद्र देख जिन्हें,
 था जिन्होंने समुद्र को सोखा ॥ ४ ॥
 जो सदा मारते रहे पाला,
 वे पड़े टाल-टूल के पाले ।
 आज हैं गाल मारते बैठे,
 जंगलों के खँगालनेवाले ॥ ५ ॥
 तप-सहारे न क्या सके कर जो,
 मन उन्हीं का मरा बहुत हारा ।
 हैं लहू-घूँट आज वे पीते,
 पी गये थे समुद्र जो झारा ॥ ६ ॥

काव्य-कौस्तुभ-

भव तरह हार आज वे बैठे,
जो कभी न थे हारनेवाले ।
आप है अब उबर नहीं पाते,
स्वर्ग के भी उबारनेवाले ॥ ७ ॥
पेड़ को जो उखाड़ लेते थे,
हैं न सकते उखाड़ वे मोथे ।
वे न है कूद-फाँद कर पाते,
फाँद जाते समुद्र को जो थे ॥ ८ ॥
जो जगत-जाल तोड़ देते थे,
तोड़ सकते वही नहीं जाला ।
वे मथे मथ दही नहीं पाते,
था जिन्होंने समुद्र मथ डाला ॥ ९ ॥
है कलेजा पकड़-पकड़ लेते,
औ सके आँख के न आँसू थम ।
क्या कहेँ, कुछ कहा नहीं जाता,
क्या रहे, औ हो गये क्या हम ॥१०॥

१५ जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

कविवर, जगन्नाथदास रत्नाकर का जन्म काशी में भाद्रपद शुक्ल पंचमी संवत् १९२३ को हुआ। उनके पिता बा० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल भी बड़े काव्य-रसिक थे। रत्नाकरजी ने बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् आँवागढ़ राज्य में नौकरी की; फिर अयोध्या के राजा सर प्रताप-नारायण सिंह के, और उनके मरने पर उनकी-धर्मपत्नी के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। इस पद पर रहकर उन्होंने अच्छी समृद्धि प्राप्त की थी।

'रत्नाकरजी' ने केवल ब्रजभाषा में कविता की है। उनकी कविता पुरानी पद्धति पर चलती हुई भी अत्यन्त सरस और ओजपूर्ण है। उनकी भाषा मँजी हुई, रोचक और मधुर है। वे अपने समय में ब्रजभाषा के सबसे बड़े कवि समझे जाते थे। उन्होंने 'गंगावतरण' 'हरिश्चन्द्र' 'उद्धव-शतक' 'समालोचनादर्श' 'शृंगार लहरी' 'गंगा लहरी' 'विष्णु लहरी', 'रत्नाष्टक', 'वीराष्टक' आदि काव्यों के अतिरिक्त बहुत अधिक संख्या में फुटकल छंदों की रचना की थी। इन सबमें अधिकतर प्राचीन तथा अनेक अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखित विषयों पर ही सूक्तियाँ कही गई हैं। इनमें कविता भी कुछ स्थानों पर साधारण-सी है। रत्नाकरजी ने प्राचीन काव्यों का सम्पादन भी किया है। उनमें 'हित तरंगिणी', 'हस्मीर हठ', 'कंठाभरण' और 'बिहारी-रत्नाकर' नाम से विख्यात बिहारी की सतसई विशेष उल्लेख-योग्य हैं। 'सूरसागर' का सम्पादन पूर्ण-रूप से कर सकने के पहले ही हरिद्वार में संवत् १९८९ के ज्येष्ठ मास में उनका स्वर्गवास हो गया।

बा० जगन्नाथदासजी की उपर्युक्त सभी कविताओं का संग्रह काशी

नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा 'रत्नाकर' नाम से बहुत सजधज के साथ निकला है। नीचे उनकी कविता के कुछ सरस अवतरण दिए जाते हैं।

भीष्म-प्रतिज्ञा

भीषम भयानक पुकाख्यौ रन-भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिनि की गीति उठि जाइगी ।
कहै 'रतनाकर' रुधिर सों रूधैगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जाइगी ॥
जीति उठि जाइगी अजीत पांडु-पूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जाइगी ।
कैतो प्रीति-रीति को सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरि-प्रन की प्रतीति उठि जाइगी ॥१॥

पारथ विचारौ पुरुषारथ करैगो कहा,
स्वारथ-समेत परमारथ नसैहों मैं ।
कहै 'रतनाकर' प्रचाख्यो रन भीषम यौं,
आज दुरजोधन-दुख दरि दैहों मै ॥
पंचनि कै देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पंचनि कौ स्वत्व पंचतरुच मैं मिलैहों मैं ।
हरि-प्रन-हारी-जस धारिकै धरा ह्वै सांत,
संतनु कौ सुभट सपूत कहवैहों मैं ॥२॥

वीर अभिमन्यु

वीरनि के मान औ गुमान रनधीरनि के,
 आन के बिधान भट-बृंद धमस्यनी के ।
 कहै 'रतनाकर' विमोह रंदा दूनि के,
 द्रोह के सँदोह सूत-पूत अभिमानी के ॥
 द्रोन के प्रबोध दुरबोध दुरजोधन के,
 आयु-अधि-द्विस जयद्रथ अठानी के ।
 कौरव के दाप ताप पांडव के जात बहे,
 पानी माहि पारथ-सपूत की कृपानी के ॥१॥

गांडिव-धनी को लाल आइ व्यूह-मांडव मैं,
 ऐसौ रन-तांडव मचायौ कर-कस तैं ।
 कहै 'रतनाकर' गुमान अवसान मान,
 करिगे पयान अरि-प्रान सरकस तैं ॥
 काटे देत रोदा दंड चंड बरिबंडनि के,
 छाँटे भुज-दंड देत बान करकस तैं ।
 ऐंचन न पावैं धनु नैकु धाक-धारी धीर,
 खैंचन न पावैं बीर तीर तरकस तैं ॥२॥

श्री शिव-वन्दना

अरक धतूरो चाबि रहत सदाई आप,
 भोग जथाजोग बगरावत बने रहैं ।

काव्य-कौस्तुभ

कहै 'रतनाकर' त्यों संपति असेस देत,
निज कटि सेस धारि आनँद सने रहै ॥
ललकि लुटाई दिव्य भूषन अदूषन जे,
दोषाकर भाल भव-भूषन गने रहै ।
पुरट पटंबर के अखिल अटंबर के,
बाँटि सब अंबर दिगंबर बने रहै ॥१॥
बेर बेर बिलखि विधाता सौं कुबेर कहै,
हम पै तिहारी परै संपति सँभारी ना ।
कहै 'रतनाकर' लुटाये देत संभु सबै,
देखी कहूँ ऐसी मति दान-मतवारी ना ॥
रावरे कुअंकहू की टारै मरजाद सबै,
वाकी पै निरंकुस कुटेव टारै टारी ना ।
सब हमही-से किये देत, अब कोऊ करै,
सोन-टोकरी हू दिये नौकरी हमारी ना ॥२॥
सुमति गजानन की देत कविराजनि कौं,
राजनि पै बीरता षडानन की छाए देत ।
कहै 'रतनाकर' त्यों अन्नपूरना की सुचि,
रुचिर रसोई जग-बीच बरताए देत ॥
चेतै घरबार ना बिलोकि द्वार मंगन कौं,
सीस धरी गंग हूँ उमंग सौं बहाए देत ।

द्वैही एक अंगुल गयौ है रहि चाँदी जानि,
मादी चंदचूर चंद चूर कै लुटाए देत ॥३॥

कैसें सूलपानि ह्वै अपार खल खंडि देते,
जन-मन कौ जौ सूल पानि करते नहीं ।
कहै 'रतनाकर' न बात हम काँची कहै,
साँची कहिबे मैं पुनि नैकु डरते नहीं ॥
पावते कहाँ तैं गंग विष के निवारन कौ,
कान जौ भगीरथ को आन धरते नही ।
ल्यावते लुकार धौं कहाँ तैं काम-जारन कौ,
जौ पै तीन लोक के त्रिताप हरते नहीं ॥४॥

गंगा की न धार जो सिधारि जटा-जूटनि मैं,
भूप विनती बिनु घधाइ धरा धैहै ना ।
कहै 'रतनाकर' तरंग भंगहू की नाहि,
जो निज उमंग और अंग दरसैहै ना ॥
यह करुनाहूँ की कदंबिनी न नाथ सुनौ,
ताप बिनुही जो द्रवि आप भरलैहै ना ।
यह तौ कृपा की धुनि-धार है अपार संभु,
मानस डरारे मैं तिहारे रुक्मि रैहै ना ॥५॥

गंगावतरण

बोध बुधि विधि के कमण्डल उठावत ही,
 'चाक सुरधुनि की धँसी यों घट-घट मै ।
 कहै 'रतनाकर' सुरासुर ससंक सबै,
 बिवस बिलोकत लिखे-से चित्रपट मैं ॥
 लोकपाल दौरन दसो दिसि हहरि लागे,
 हरि लागे हेरन सुपात बर-बट मैं ।
 त्रसन नदीस लागे, खसन गिरीस लागे,
 ईस लागे कसन फनीस कटि-तट मैं ॥१॥

व्रजभाषा की कविता का शृंगार है। वे खड़ी बोली में भी बड़ी सुन्दर कविता करते हैं। यद्यपि उनकी फुटकल कविताओं का संग्रह अभी तक नहीं छपा, और वे मासिक पत्र-पत्रिकाओं में ही बिखरी पड़ी है, तथापि वे हिन्दी में अद्वितीय ही। शुक्लजी प्रकृति के पुजारी हैं। प्रकृति का जैसा वास्तविक रूप है वैसाही उनकी कविता में देखने को मिलता है, अर्थात् वे प्रकृति का चित्र जैसा है वैसा ही खींचते हैं, उसमें अपने भावों का प्रतिबिम्ब नहीं देखते। शुक्लजी करुण रस की कविता लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। उनके 'शिशिर पथिक' और 'वसन्त पथिक' में इसका अच्छा निर्वाह हुआ है। वे निस्सन्देह हमारी भाषा के गौरव हैं।

पं० रामचंद्रजी की कविता के कुछ सुंदर प्रतिनिधि अवतरण नीचे दिए जाते हैं।

प्रकृति-पर्यवेक्षण

भूरी हरी घास आसपास फूली सरसों है,
 पीली पीली बिंदियों का चारों ओर है प्रसार।
 कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे,
 एकरंग मिला चला गया पीत-पारावार ॥
 गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग-राशि-रेख घनी,
 बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार।
 जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमंडल से,
 धुँधली-सी नीली नगमाला चठी धुँआधार ॥१॥

अंकित नीलाभ रक्त-गर्भ श्वेत सुमनों से,
 मटर के फँसे हुए घने हरे जाल में ।
 फलियाँ हैं करती संकेत जहाँ मुड़ते हैं,
 और अधिकार का न ज्ञान इस काल में ॥
 बैठते हैं प्रीति भोज-हेतु आसपास सब,
 पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में ।
 हॉक पर एक साथ पंखों ने सराटे भरे,
 हम मेड़-पार हुए एक ही उछाल में ॥२॥

X X X X

धौले कँकरीले कटे विकट कगार जहाँ,
 जड़ों की जटा के जाल खचित दिखाते हैं ।
 निकल वही से पेड़ आड़े बढ़े हुए कई,
 अधर में लेटे हुए अंग लपकाते हैं ॥
 भूमि की सलिल-सिक्त श्यामता में गुञ्जी हरी,
 दूब के पटल पर शीतल बिछाते हैं ।
 सारी हरियाली छाँट लाल-लाल छीटे बने,
 छिटके पलाश चित्त बीच छपे जाते हैं ॥३॥
 शिशुओं की पीवर गँठीली पेड़ियों से फूटी,
 सरल लचीली टूटी डालियाँ कहीं-कहीं ।

काव्य-कौस्तुभ

नील-श्याम-दल-मढ़े छोर छितराए हुए,
शीर्ण मुरझाए फूल झौर हैं झुला रहीं ॥
कोरे धुंध-धूमले गगन पट बीच खुले,
सेमलों के शाखा जाल खचित खड़े वहीं ।
तसे हैं विशाल लाल संपुट-से फूल चोखे,
वसे हैं बिहंग अंग जिनके छिपे नहीं ॥४॥

× × × ×

प्रखर-प्रणय-पूर्णा-दृष्टि से प्रभाकर की,
ललक-लपट-भरी भूमि भभराई है ।
पीवर पवन लोट-लोट धूल धूसरित,
भ्रपट रहा है—बड़ी धूम को बधाई है ॥
सूखे तृण-पत्र लिये ऋहीं रेणुचक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है ।
झाड़ औ भ्रपेट झेल भूमते खड़े हैं पेड़,
मर्मर-मिलित हू-हू दे रहा सुनाई है ॥५॥
दौड़ती है दृष्टि खुले मगमय प्रसार-बीच,
ताप, तिलमिली की तरंगों का जहाँ है छोर ।
निखरे सपाट तपे खेतोंपर छाया डाल,
डोलते हमारे डील लेते घर्म-मर्म घोर ॥

धूल भरी गोद की उमंग उठ-उठ कभी,
 छोपती है हमें, फिर छोड़ती है किसी ओर ।
 जीवन की ज्वाला से किनारे पड़े हुए पिंड,
 पिघलेंगे कैसे कुछ विश्व मर्मता बटोर ? ॥६॥
 तमक रही है जिस तेज से ज्वलंत भूति,
 उसीने हमारे आज पैर भी उभारे हैं ।
 झंझा बीच फैली झाड़ झपट हमारी देखो,
 लुबो की लपक मे भभूके ये हमारे हैं ॥
 नाचती उमंग है हमारी बात-चक्र बीच,
 रक्षण के भाव कहीं छाया मे पसारे हैं ।
 द्रवित दया की क्षीण रेखा भी सलिलवती,
 रखती है हरे उन्हें धरे जो किनारे हैं ॥७॥
 (हृदय का मधुर भार से)

कुमार का रंग निवास

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी ।
 चारु हासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी ॥
 अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई ।
 सीकन मे गुच्छि भूलि रहीं जो मंद झकोरन पाई ॥
 चुवत मधूक परसि भू जौ-लौं 'टप-टप' शब्द सुनावैं ।
 ताके प्रथम प्लक मारत भर में निज झलक दिखावैं ॥

सहकति कतहुँ अशोक मंजरी; कतहुँ कतहुँ पुर माही ।

रामजन्म-उत्सव के अब लौ साज हटे है नाही ॥

छिटकी विमल विश्रामवन पै यामिनी मृदुता भरी ।
 वासित सुगंध प्रसून परिमल सोँ, नछत्रन सोँ जरी ॥
 ऊँचे उठे हिमवान का हिमराशि सोँ मन भावनी ।
 संचरति शैल सुवायु शीतल मंद मद सुहावनी ॥
 चमकाय शृंगन चंद्र चढ़ि अब अमल अंबर-पथ गह्यो ।
 भलकाय निद्रित भूमि रोहिनि के हिलोरन को रह्यो ॥
 रसघाम के बाँके मुँडेरन पै रही द्युति छाया है ।
 जहँ हिलत डोलत नाहि कोऊ कतहुँ परत लखाय है ॥
 बस हाँक केवल फाटकन पै पाहरुन की सुनि परै ।
 जहँ एक 'मुद्रा' कहि पुकारत एक 'अंगन' धुनि करै ॥
 बजि उठत तोरणवाद्य हैं, पुनि भूमि नीरवता लहै ।
 है कवहुँ बोलत फेरु, पुनि भनकार भौंगुर की रहै ॥
 भवन भीतर जाति जालिन बीच सो छनि चाँदनी ।
 भीति पै औ भूमि पै जो सीप मर्मर की बनी ॥
 किरनमाल मयंक की तरुनीन पै है परि रही ।
 स्वर्ग बिच विश्राम थल अमरीन को मानो यही ॥

कुमार के रंगनिवास की हैं अलबेली नवेली तहाँ रमनी ।

लसै छवि सोवत भें मुख की प्रति एक की ऐसी लुनाई सनी ॥

परै कहुँ जाहि पै दीठि जहाँ सोइ लागति सुंदरि ऐसी घनी ।
 यहै कहि आवत है मन मे सब में यह रत्न अमोल जनी ॥
 पै बढ़ि सुंदरि एक सो एक लखाति अनेक हैं पास परी ।
 मोद मे माति फिरैं अँखियाँ तहँ रूप के राशि के बीच भरी ॥
 रत्न की हाट मे दौरति ज्यों मणि तें मणि ऊपर दीठि छरी ।
 लोभि रहै प्रति एक पै जौ लागि और की ओर न जाय ढरी ॥

सोवती सँभार बिनु सोभा सरसाय, गात
 आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपधर ।
 चीकने चिकुर कहुँ बँधे हैं कुसुम दाम,
 कारे सटकारे कहुँ लहरत लंक पर ॥
 सोवैँ थकि हास औ विलास सो पसारि पायँ,
 जैसे कलकंठ रसगीत गाथ दिन भर ।
 पंख बीच नाए सिर आपनो लखाति तौ लौ,
 जौ लौँ न प्रभात आय खोलन कहत स्वर ॥
 कंचन की दीवट पै दीपक सुगंध भरे,
 जगमग होत भौन भीतर उजास करि ।
 आभा रंग-रंग की दिखाय रही तासो मिलि,
 किरन मयंक की झरोखन सो ढरि ढरि ॥
 देखि परैं, साँवरे सलोने, कहुँ गोरे मुख,
 भ्रुकुटी विशाल बंक, बरुनी बिछी हैं श्याम ।

अधखुले अधर, दिखात दंतकोर कछु,
 चुनि धरे मोती मानो रुचिबे के हेतु दाम ॥
 कोमल कलाई गोल, छोटे पाँख पैजनी हैं,
 देति मनकार जहाँ हिलें कहुँ कोऊ बाम ।
 स्वप्न दूटि जात वाको जामे सो रही है पाय,
 कुँवर रिभाय उपहार कछु अभिराम ॥
 हैकै परी लॉबी कोऊ बीना लै कपोल तर,
 आँगुरी अरुम्भि रही अब ताई तार पर ।
 वाही रूप जैसे जब कढ़ति सो तान रही,
 भूमि रस जाके रूपे लोचन विशाल वर ॥
 लै कै परी कोऊ मृगशावक हिये तें लाय,
 सोय गयो दुँगत कुसुम पाय तासु कर ।
 कुतरो कुसुम लसै कामिनी के कर बीच,
 पाती लपटानी हरी हरिन अधर तर ॥
 सखियाँ द्वै आपस में जोरि गर गई सोय,
 गुहत्त गुहत्त गुच्छ मोगरे को महकत ।
 प्रेमपाश-रूप रह्यो बाँधि अंग अंगन जो,
 अंतस् सो अंतस् मिलावत न सरकत ॥
 सोयबे के प्रथम पिरोवति रही है कोड,
 कंठहार हेतु मोती मानिक औ मरकत ।

सूत में पिरोए रहे अरुम्भि कलाई बीच,
 रंग रंग को प्रकाश तिनसो है झलकत ॥
 उपवन भेटती नदी को कलनाद सुनि,
 सोई सब विमल बिछावन पै पास पास ।
 मुँदि दल नलिनी अनेक रही जोहि मनो,
 भानु को प्रकाश, जाहि पाय होत है विकास ॥
 कोठरी कुमार की लखाति, जाके द्वार बीच,
 दमकि सुरंगपट रहे पाय कै उजास ।
 ताके दोऊ ओर गंगा गौमती सलोनी सोई,
 रसधाम बीच जो प्रधान है करें निवास ॥

(बुद्धचरित से)

१७ सत्यनारायण 'कविरत्न'

कविरत्न सत्यनारायणजी माघ शुक्ल ३^० संवत् १९४१ को पैदा हुए थे। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे। बचपन ही में वे अनाथ हो गए थे। उनकी मौसी ने कुछ दिन उन्हें पाला-पोसा था। फिर उनकी भी मृत्यु हो गई। तब धौंधूपुर (जिला आगरा) निवासी महंत रघुबरदास ने उन्हें पाला और पढ़ाया-लिखाया। उन्होंने बी० ए० तक पढ़ा था। वे बड़े ही भोले-भाले और श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। ब्रजभाषा उनकी मातृभाषा थी और उसीमें उन्होंने कविता की। उनकी कविता बहुत सरस होती थी। उसके सुनाने का ढंग तो उन्हें असाधारण मिला था। उनके श्रोता सदैव मंत्र-मुग्ध होकर उनकी कविता का पाठ सुना करते थे। उनके जीवन में सदैव दुःख की प्रधानता रही, इससे उसका प्रतिबिंब उनकी कविता में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। उनकी कल्प-रस की कविता है भी अत्यन्त प्रभाव-शालिनी। उनकी कविताएँ 'हृदय-तरंग' नाम से प्रकाशित हुई हैं। उनकी कुछ अच्छी कविताएँ अधूरी ही रह गई थीं, जिनमें 'अमर दूत' 'दिलीप-कथा' विशेष उल्लेख करने के योग्य हैं। वे राष्ट्रीय भावना से भी समन्वित थे। उनकी कविताओं में सर्वत्र भारतवर्ष के प्रति अनुराग देखा जाता है। उनकी कई राष्ट्रीय कविताएँ भी बहुत अच्छी बन पड़ी हैं।

सत्यनारायणजी ने संस्कृत के महाकवि भवभूति के 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद भी किया था। उनमें उन्हें पूरी सफलता मिली है। इन अनुवादों के पद्यांशों में मौलिकता का-सा आनंद आता

है। इनके सवैये तो बहुत उत्कृष्ट हैं। कविरत्नजी का विकास आरंभ ही हुआ था कि प्रायः ३४ वर्ष की अल्पायु में ही, १६ अप्रैल सन् १९१८ को उनका शरीरान्त हो गया। उनकी कविता के कुछ सरस अवतरण नीचे दिए जाते हैं।

उपालम्भ

माधव, आप सदा के कोरे,
 दीन दुखी जो तुमको जाँचत सो दानिनु के भोरे ॥
 कितु बात यह, तुव स्वभाव वे नैकहु जानत नाही।
 सुनि-सुनि सुयस रावरौ तुव ढिग आवन कों ललचाहीं ॥
 नाम धरै तुमको जग मोहन ! मोह न तुमको आवै।
 करुणानिधि, तुव हृदय न एकहु करुणा बुन्द समावै ॥
 लेत एक को देत दूसरेहि दानी बनि जग माहीं।
 ऐसो हेर-फेर नित नूनन लाग्यो रहत सदाही ॥
 भौँति-भौँति के गोपिन के जो तुम प्रभु, चीर चुराये।
 अति उदारता सो ले वेही द्रोपदि कों पकराये ॥
 रतनाकर कों मथत सुधा को कलस आप जो पायो।
 मंद-मंद मुसकात मनोहर सो देवन कों प्यायो ॥
 मत्त गयंद कुवलिया के जो खेल प्राण हर लीने।
 बड़ी दया दरसाइ दयानिधि, सो गजेंद्र कों दीने ॥

काव्य कौस्तुभ

करि के निधन बालि रावण को राजपाट जो आयो ।
तहँ सुग्रीव, विभीषण को करि अति अहसान बिठायो ॥
'पौंडरीके को सर्वनास करि मालमता जो लीयो ।
ताको विप्र सुदामा के सिर कर सनेह 'मढ़ि दीयो' ॥
ऐसी 'तूमा पलटी' के गुन 'नेति-नेति' श्रुति गावैं ।
सेस, महेस, सुरेस, गनेसहु सहसा पार न पावैं ॥
इत माया अगाध सागर तुम डोवहु भारत नैया ।
रचि महाभारत कहूँ लरावत अपु मे भैया-भैया ॥
या कारन जग मे प्रसिद्ध अति 'निबटी रकम' कहायो ।
'बड़े-बड़े तुम मठा धुँवारे' क्यों साँची खुलवाओ ॥

प्रभो !

बस, अब नहिं जाति सही ।
बिपुल वेदना विविध भाँति, जो तन-मन व्यापि रही ॥
कबलों सहे, अबधि सहिबे की कछु तो निश्चित कीजे ।
दीनबंधु, यह दीन-दशा लखि, क्यों नहिं हृदय पसीजे ? ॥
बारन दुख-टारन, तारन में प्रसु तुम बार न लाये ।
फिर क्यों करुणा करत स्वजन पै, करुणानिधि अलसाये ॥
यदि जो कर्म-यातना भोगत, तुमरेहू अनुगामी ।
तौ करि कृपा ब्रतायो चाहियतु तुम काहे के स्वामी ! ॥

अथवा विरद-बानि अपनी कछु, कै तुमने तजि दीनी ।
 या कारण, हम सम अनाथ की, नाथ, न जो सुधि लीनी ॥
 वेद वदत, गावत पुरान सब, तुम त्रय ताप नंसावत ।
 शरणागत की पीर तनक हूँ, तुम्हें तीर सम लागत ॥
 हम से शरणापन्न दुखी कों, जाने क्यों बिसरायो ।
 शरणागत-वत्सल, 'सत' योंही कोरो नाम धरायो ॥

गिरिजा-सिन्धुजा-संवाद

सिन्धु-सुता इक दिना सिधाई श्रीगिरिसुता दुबारे ।
 विघ्न-विदारण मातु कहाँ ? यह भाखयो लागि किवारे ॥
 कष्ट-निवारन मंगल-करनी जाके सब गुन गावैं ।
 मेरे द्वार पास तिहि कारण विघन रहन नहिं पावैं ॥
 कहाँ भिखारी गयो यहाँ ते, करै जो तुव प्रतिपालो ? ।
 होगो वहाँ जाय किन देखो, बलि पै पखो कसालो ॥
 गरल-अहारी कहाँ ? बताओ लेहुँ आप सों लेखो ।
 बार बार का पूछति मोकों जाय पूतना देखो ॥
 बहुरि पियारी मोहि बताओ भुजंग-नाह परवीनो ? ।
 देखहु जाय शेष-शय्या पर जहाँ शयन तिन कीनों ॥
 कहाँ पशुपति मोहि दिखाओ ? गोकुल डगर पधारो ।
 शैलपती कहँ ? कर में धारै गोबरधनहि निहारो ॥

‘सत्य नरायण’ हँसि के कमला भीतर चरण पधारै ।
अस आमोद-प्रमोद दोऊ को हमरे शोक निवारै ॥

अमर दूत

श्री राधा वर, निजजन-बाधा-सकल-नसावन ।
जाको ब्रज मन भावन, जो ब्रज को मनभावन ॥
रसिक-सिरोमनि, मन हरन, निरमल नेह निकुंज ।
मोद भरन उर सुख करन, अविचल आनँद पुंज ॥
रँगिलो साँवरो ॥१॥

कंस-मारि भूभार-उतारन, खल-दल-तारन ।
बिस्तारन विज्ञान विमल श्रुति-सेतु सँवारन ॥
जन-मन-रंजन सोहना, गुन-आगर चित चोर ।
भव-भय-भंजन मोहना, नागर नंद-किसोर ॥
गयो जब द्वारिका ॥२॥

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई ।
श्याम-बिरह-अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई ॥
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन छिन परम अधीर ।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरत नैननु नीर ॥

बिकल कल ना हिये ॥३॥

कृष्ण-बिरह की बेलि नई ता उर हरियाई ।
सोचन अश्रु-विमोचन दोउ दलबल अधिकाई ॥

पाइ प्रेम रस बढ़ि गई, तन-तरु लिपटी धाइ ।

फैल फूटि चहुँघा छई, बिथा न बरनी जाइ ॥

अकथ ताकी कथा ॥४॥

कहति विकल मन महरि कहाँ हरि ढूँढ़न जाऊँ ? ।

कब गहि लालन ललकत-मन गहि हृदय लगाऊँ ॥

सीरी कब छाती करौँ, कब सुत दरसन पाउँ ? ।

कबै मोद निज मन भरौँ, किहि कर धाइ पठाउँ ? ॥

सँदेसो श्याम पै ॥५॥

पढ़ी न अक्षर एक, ज्ञान सपने ना पायो ।

दूध दही चारत में सबरो जनम गमायो ॥

मात-पिता बैरी भये, शिक्षा दई न मोहि ।

सबरे दिन योही गये, कहा कहे तैं होहि ॥

मनहि मन में रही ॥६॥

नारी-शिक्षा निरादरत जे लोग अनारी ।

ते स्वदेस-अवनति प्रचंड-पातक अधिकारी ॥

निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समुक्ति सब कोइ ।

विद्या-बल लहि मति परम अबला सबला होइ ॥

लखौ अजमाइ के ॥७॥

अति उदास, बिन आस, सबै-तन-सुरति भुलानी ।

पूत प्रेम सों भरी परम दरसन ललचानी ॥

बिलपति कलपति अति जवै, लखि जननी निज श्याम ।

भगत भगत आये तवै, भाये मन अभिराम ॥

भ्रमर के रूप में ॥८॥

ठिठक्यो अटक्यो, भ्रमर देखि जसुमति सहरानी ।

निज-दुख-सों अति-दुखी ताहि मन में अनुमानी ॥

तिहि दिसि चितवत चकित-चित, सजल जुगल भरि नैन ।

हरि-वियोग-कातर अभित, आरत गद-गद वैन ॥

कहन तासों लगी ॥९॥

तेरो तन घनश्याम, श्याम घनश्याम उतें सुनि ।

तेरो गुंजन सुरलि, मधुप, उत मधुर सुरलि धुनि ॥

पीत रेख तव कटि बसत, उत पीताम्बर चारु ।

विपिन-विहारी दोड लसत, एक रूप सिंगारु ॥

जुगल रस के चखा ॥१०॥

‘याही कारन निज प्यारे दिंग तोहि पठाऊँ ।

कहियो वासों बिथा सबै जो अबै सुनाऊँ ॥

जैयो षटपद, धाय कें, करि निज कृपा बिसेस ।

लैयो काज बनाय कें, दै मो यह संदेस ॥

सिदोसौ लौटियो ॥११॥

‘जननी जन्मभूमि सुनियत स्वर्गहुँ सों प्यारी ।’

सो तजि सबरो मोह साँवरे तुमनि बिसारी ॥

का तुम्हरी गति मति आई, जो ऐसौ बरताव ।

किधौं नीति बढ़ली नई, ताकौ पख्यो प्रभाव ॥

कुटिल विष को भख्यो ॥१२॥

'माखन कर पौंछन सां चिक्कन चारु सुहावत ।

निधुवन श्याम तमाल रख्यो जो हिय हरसावत ॥

लागत ताके लखन सों, मति, चलि वाकी ओर ।

बात लगावत सखन सों आवत नंदकिशोर ॥

कितहुँ सों भाजिकें ॥ १३ ॥

तुही कलिन्दी कूल कदंबन के बन छाये ।

बरन बरन के लता-भवन मन-हरन सुहाये ॥

तुही कुंद की कुंज ये, परम-प्रमोद-समाज ।

पै मुकुंद बिन बिस-मये, सारे सुखमा साज ॥

चित्त वाँही धख्यो ॥ १४ ॥

'लगत पलास उदास, शोक में अशोक भारी ।

बौरे बने रसाल, माधवीलता दुखारी ॥

तजितजि निज प्रकृतिरचनै, बिरह, बिथित अकुलात ।

जड़ हू है चेतन मनौ, दोन मलीन लखात ॥

एक माधौ बिना ॥ १५ ॥

नित नूतन तृन डारि सघन बंसी बट छैयौं ।

फेरि फेरि कर-कमल, चराई, जो हरि गैयौं ॥

काव्य-कौस्तुभ

ते तित सुधि अतिही करत, सब तन रहीं मुराय ।

नयन झवत जल, नहि चरत, व्याकुल उदर अघाय ॥

उठाये म्हों फिरै ॥ १६ ॥

ये दीन गऊ दुख सों दिन बितवत ।

दरस-लालसा लगी चकित-चित इतउत चितवत ॥

एक संग तिनकों-तजत, अलि, कहियो, ए लाल ।

क्यों न हीय निज तुम लजत, जग कहाय गोपाल ॥

मोह ऐसो तज्यो ॥ १७ ॥

जासु तन सुंदर सोहै ।

नीलाम्बर-बसनाभिराम विद्युत मन मोहै ॥

भ्रम में परि घनश्याम के, लखि घनश्याम अगार ।

नाचि नाचि ब्रजधाम के, कूकत मोर अपार ॥

भरे आनंद में ॥ १८ ॥

‘यहँ को नव नवनीत मिल्यो मिसरी अति उत्तम ।

भला सके मिलि कहाँ सहर में सद याके सम ॥

रहै यही लालो अजहुँ, काढ़त यहि जब मोर ।

भूखो रहत न होइ कहुँ, मेरो माखन चोर ॥

बँध्यो निज टेव को ॥ १९ ॥

‘भये संकुचित-हृदय भीरु अब ऐसे भय में ।

काऊ को विश्वास न निज-जातीय-उदय में ॥

लखियत कोड रीति न भली, नहि पूरव अनुराग ।

अपनी अपनी ढापुली, अपनो अपनो राग ॥

अलापै जोर सों ॥२०॥

'नहि देशीय भेष भावनु की आशा कोऊ ।

लखियतु जो ब्रज भाषा, जाति हिरानी सोऊ ॥

आस्तिक बुधि बंधनन से, विगरीं सब मरजाद ।

सब काऊ के हिय बसे, न्यारे न्यारे स्वाद ॥

अनोखे ढंग के ॥२१॥

'गोबरधन कर-कमल धारि जो इंद्र लजायौ ।

तुम बिन सो तिह को बदलौ अब चहत चुकायौ ॥

नहिं बरसावत सघन अब, नियम पूर्वक नीर ।

जासों गोकुल होत सब, दिन दिन परम अधीर ॥

न्याव सपनो भयो ॥२२॥

'पहले को सो अब न तिहारो यह वृन्दावन ।

या के चारों ओर भये बहु विधि परिवर्त्तन ॥

बने खेत चौरस नये, काटि घने बन पुञ्ज ।

देखन कों बस रहि गये, निधुवन, सेवा-कुञ्ज ॥

कहाँ चरि हैं गऊ ॥२३॥

पहली-सी नहि या जमुना हू में गहराई ।

जल को थल, अरु थल को जल, अब परत लखाई ॥

कालीदह कौ ठौर जहाँ, चमकत उज्जल रेत ।
काष्ठी माली करत तहाँ, अपने अपने खेत ॥

घिरे काऊनि सो ॥२४॥

१८ मैथिलीशरण गुप्त

कविवर बा० मैथिलीशरण गुप्त श्रावण शुद्ध तृतीया संवत् १९३३ को चिरगाँव (जिला झाँसी) में उत्पन्न हुए थे । आपके पिता का नाम बा० रामचरण था । वे भी कविता प्रेमी थे । गुप्तजी श्रीरामोपासक वैष्णव हैं । उन्हें प्राचीन आर्यों की वीरता संबंधी आख्यान लडकपन से ही प्रिय है । तभी आपने कई राष्ट्रीय काव्यों की रचना की है । वे बड़े विद्या-व्यसनी हैं और सदैव कुछ न-कुछ लिखा पढ़ा करते हैं । अत्यन्त मिलनसार और सादगी-पसंद हैं । वे इस समय खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं ।

गुप्तजी ने बहुत-से मौलिक तथा अनुवादित काव्य लिखे हैं । उन सबकी रचना खड़ी बोली में हुई है । गुप्तजी खड़ी बोली के 'स्टैंडर्ड' (Standard) कवि माने जाते हैं । उनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध और संस्कृतगर्भित होती है, परन्तु उसमें क्लिष्टता या गंभीरता नहीं रहती । गुप्तजी ने बँगला के प्रसिद्ध कवि साइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध', 'वीरांगना' और 'विरहिणी ब्रजांगना' नामक काव्यों का तथा नवीनचंद्र सेन के 'पलासीर युद्ध का अनुवाद किया है । उन्होंने फिट्ज्जराल्ड कृत उमरखय्याम की रूबाइयों को भी भाषान्तरित किया है । उनके मौलिक काव्यों में 'भारत-भारती' और 'जयद्रथवध' बहुत प्रसिद्ध हैं । इनके अतिरिक्त उन्होंने रंग-मे भंग, शकुन्तला, तिलोत्तमा, पत्रावली, वैतालिक, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश संगीत, हिन्दू, शक्ति, गुरुकुल, त्रिपथगा, वनवैभव, वकसंहार, झकार आदि बहुत-से छोटे-बड़े

काव्य भी रचे। उनका सबसे बड़ा काव्य 'साकेत' है जिसमें लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला की वियोग दशा का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। यह खड़ी बोली के श्रेष्ठ महाकाव्यों में गिना जाता है।

मैथिलीशरणजी की कविता के कुछ सुन्दर अवतरण नीचे दिये जाते हैं।

मलय-मारुत

[श्रीकृष्ण के गोकुल से मथुरा चले जाने पर राधा को अत्यन्त वेदना हुई। वे मलय-पवन से अपनी मानसिक दशा का हाल श्रीकृष्ण को सुनाने का अनुरोध करती हैं]।

मलयाचल गृह सुना तुम्हारा जहाँ बिहगिनी गाती हैं,
 यथा अप्सरा नन्दन-वन में श्रवण-सुधा बरसाती हैं।
 हे मलयानिल, कुसुम-कामिनी अति कोमल कमला कैसी,
 सेवा करती सदा तुम्हारी रति-नायक की रति जैसी ॥ १ ॥
 हाय ! आज ब्रज में क्यों फिरते जाओ तुम सरसी के तीर,
 मृदु हिलोल-युक्त नलिनी को मुदित करो हे मन्द-समीर।
 ब्रज दिनकर जो हैं वह ब्रज तज अन्धकार फैलाकर आज,
 अन्य दिशा में हैं विराजते विदित नन्द-नन्दक ब्रजराज ॥ २ ॥
 देगी तुम्हें सुरभि-मणि नलिनी, राधा क्या दे सकती हाय !
 भींग रही है नयन-नीर से वह दुःखिनी आज निरुपाय ॥
 जाओ, जहाँ कोकिला गाती, मधु-वर्षा-सी होती है,
 इस निकुञ्ज में आज विरहिणी राधा बैठी रोती है ॥ ३ ॥

सम-दुःखी हो यदि तुम मेरे तो हरि-निकट शीघ्र जाओ,
जाओ, जाओ, सुभग आशुगति, जहाँ श्यामघन को पाओ ।
राधा का रोदन-रव उनके कानों तक तुम पहुँचाओ;
“मरती है राधा वियोगिनी”—राधावर से कह आओ ॥ ४ ॥

जाओ, अहो महाबलि ! सत्वर लाओ ब्रजभूषण का शोध,
दुर्मति तुङ्ग-शृङ्ग को तोड़ो करे तुम्हारा जो गति रोध ।
विघ्न करे तरुराज कहीं तो वज्रपात करके सक्रोध;
भञ्जन करना उसे प्रभञ्जन ! करती हूँ तुमसे अनुरोध ॥ ५ ॥

तुम्हें देख यदि नदी-सुन्दरी डाले प्रेम-पाश अनुभूत,
मत भूलो उसके विभ्रम में तुम हे राधा के प्रिय दूत ।
मन का क्रय करने को देगी कुसुम-कामिनी सौरभ-धन,
मत देखो, मत देखो उसको, छलना है वह अहो पवन ॥ ६ ॥

शिशिर-नीर से भीग न भूलो धारावाहिक लोचन-नीर,
शाखा पर यदि कोकिल बोले छोड़ो वह वन शीघ्र समीर ।
होना सुख से विमुख सोचकर राधा का यह दुख भारी,
पर दुख से जो दुखी, वही है सुकृती, सुजन, सदाचारी ॥ ७ ॥

पहुँचो जब हरि निकट, सुनाना उन्हें राधिका का रोना,
‘श्याम बिना गोकुल रोता है’—कह देना साक्षी होना ।
और कुछ नहीं कह सकती हूँ, लज्जावश मैं हूँ नारी,
‘मधु’ कहता है ब्रजबाले ! मैं कह दूँगा बातें सारी ॥ ८ ॥

नक-कटैया

[पंचवटी में पर्णकुटी के भीतर रात में राम-सीता सोये हैं । बलुधर लक्ष्मण द्वार पर वीरासन में बैठे पहरा दे रहे हैं । अचानक शूर्पणखा अत्यन्त सुन्दरी रमणी के रूप में उनके सम्मुख उपस्थित होती है । इसके अनन्तर जो घटना घटित होती है उसका वर्णन नीचे दिया जाता है ।]

चकाचौंध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्सङ्कोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्यवदनी वाला ।
रत्नाभरण भरे अङ्गों में ऐसे सुन्दर लगते थे,
ज्यो प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ जुगनू जगमग जगते थे ॥१॥
कटि के नीचे चिकुर-जाल में चलक रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यो लहरों से लोल कमल भौरो के साथ ।
दायाँ हाथ लिये था सुरभित चित्र-विचित्र सुमन-माला,
टॉगा धनुष कि कल्पलता पर मनसिज ने भूला डाला ॥२॥
पर सन्देह-दोल पर ही था लक्ष्मण का मन भूल रहा,
भटक भावनाओं के भ्रम में भीतर ही था भूल रहा ।
पड़े विचार-चक्र में थे वे, कहाँ न जानें कूल रहा,
आज जागरित-स्वप्न-शाल यह सम्मुख कैसा फूल रहा ! ॥३॥
देख उन्हें विस्मित विशेष वह सुस्तिमवदनी ही बोली—
(रमणी की मूरत मनोब्र थी किन्तु न थी सूरत भोली) ।
“शूरवीर होकर अबला को देख सुभग, तुम थकित हुए,
संस्मृति की स्वाभाविकता पर चञ्चल होकर चकित हुए ॥४॥

“सुन्दरि, मैं सचमुच विस्मित हूँ तुमको सहसा देख जहाँ,
 ढलती रात, अकेली अबला, निकल पड़ी तुम कौन, कहाँ ? ।
 पर अबला कहकर अपने को तुम प्रगल्भता रखती हो, .
 निर्ममता निरीह पुरुषों में निस्सन्देह निरखती हो ॥५॥
 शूरवीर कहकर भी तुमको तुम जो भीरु बताती हो,
 इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम अपनी मुझे जताती हो ।
 भाषण-भङ्गी देख तुम्हारी हों, मुझको भय होता है,
 प्रमदे, तुम्हे देख वन में यों मन में संशय होता है ॥६॥
 कहूँ मानवी यदि मैं तुमको तो वैसा संकोच कहाँ ?,
 कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्य कि लोच कहाँ ? ।
 वनदेवी समझूँ तो वह तो होता है भोली भाली,
 तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो हे रञ्जित रहस्यवाली ?” ॥७॥
 “केवल इतना कि तुम कौन हो” बोली वह “हा ! निष्ठुर कान्त,
 यह भी नहीं—‘चाहती हो क्या’, कैसे हो मन मेरा शान्त ? ।
 मुझे जान पड़ता है, तुमसे आज छली जाऊँगी मैं,
 किन्तु आ गई हूँ जब तब क्या सहज चली जाऊँगी मैं ? ॥८॥
 समझो मुझे अतिथि ही अपना, कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या ?
 पत्थर पिघले, किन्तु तुम्हारा तब भी हृदय हिलेगा क्या ?”
 किया अधर-दर्शन रमणी ने लक्ष्मण फिर भी मुसुकाये,
 मुसकाकर ही बोले उससे—“हे शुभ मूर्तिमती माये, ॥९॥

तुम अनुपम ऐश्वर्यवती हो, एक अकिञ्चन जन हूँ मैं, क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ, बन्-वासी, निर्धन हूँ मैं ।”

श्रमणी ने फिर कहा कि “मैंने भाव तुम्हारा जान लिया, जो धन तुम्हें दिया है विधि ने देवों को भी नहीं दिया ॥१०॥

किन्तु विराग भाव धारणकर बने स्वयं यदि तुम त्यागी, तो ये रत्नाभरण वार दूँ तुम पर मैं हे बड़ भागी, धारण करूँ योग तुम-सा ही, भोग-लालसा के कारण, पर कर सकती हूँ मैं यों ही विपुल-विघ्न बाधा वारण ॥११॥

वृत्त लगाने की ही इच्छा कितने ही जन रखते हैं, पर उनमें जो फल लगते हैं क्या वे उन्हें न चखते हैं ?”

लक्ष्मण अब हँस पड़े और यों कहने लगे “दुहाई है !, सेंटमेंत की तापस पदवी मैंने तुमसे पाई है ॥१२॥

यो ही यदि तप का फल पाऊँ तो मैं उसे न चक्खूँगा, तुम-से जन के लिए यत्न से उसको रक्षित रक्खूँगा ।”

हँसी सुन्दरी भी फिर बोली—“यदि वह फल मैं ही होऊँ, तो क्या करो, बताओ ? बस अब, क्यों अमूल्य अबसर खोऊँ ?” ॥१३॥

“हा नारी ! किस भ्रम में है तू, प्रेम नहीं यह तो है मोह; आत्मा का विश्वास नहीं यह है तेरे मन का विद्रोह । विष से भरी वासना है, यह, सुधा-पूर्ण वह प्रीति नहीं; रीति नहीं, अनरीति और यह अति अनीति है, नीति नहीं” ॥१४॥

मैथिलीशरणगुप्त

इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-पटी का रङ्ग;
किरण-करटकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अङ्ग ।
कुछ-कुछ अरुण, सुनहली कुछ-कुछ प्राची की अब भूषा थी,
पञ्चवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी ॥१५॥
अहा ! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी, अम्बर को-सी मूर्ति न थी ।
वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़कर गया चन्द्र पश्चिम की ओर;
लक्ष्मण के मुँह पर भी लज्जा लेने लगी अपूर्व हिलोर ॥१६॥
चौंक पड़ी प्रमदा भी सहसा, देख सामने सीता को,
कुमुद्वती-सी दबी देख वह, उस पद्मिनी पुनीता को ।
एक बार ऊखा की आभा देखी उसने अम्बर में,
एक बार सीता की शोभा देखो विगताडम्बर में ॥१७॥
एक बार अपने अङ्गों की ओर दृष्टि उसने डाली,
उलझ गई वह किन्तु,—बीच में थी विभूषणों की जाली ।
एक बार फिर वैदेही के देखे अङ्ग अदृषण वे,
सनक्षत्र अरुणोदय ऐसे, रखते थे शुभ भूषण वे ॥१८॥
सीता ने भी उस रमणी को देखा, लक्ष्मण को देखा,
फिर दोनों के बीच खींच दी एक अपूर्व हास-रेखा ।
“देवर, तुम कैसे निर्दय हो, घर आये जन का अपमान,
किसके पर-नर तुम, उसके जो-चाहे तुमको प्राण समान ? ॥१९॥

याचक को निराश करने में हो सकती है लाचारी, किन्तु नहीं आई है आश्रय लेने को यह सुकुमारी । देने ही आई है तुमको निज सर्वस्व बिना सङ्कोच, देने में कार्पण्य तुम्हें हो, तो लेने में है क्या सोच ?” ॥२०॥

उनके अरुण चरण पद्मों में झुक लक्ष्मण ने किया प्रणाम, आशीर्वाद दिया सीता ने—“हों सब सफल तुम्हारे काम ।” और कहा—“सब बातें मैंने सुनी, नहीं तुम रखना याद; कब से चलता है बोलो, यह नूतन शुक-रम्भा-संवाद ?” ॥२१॥

बोलीं फिर उस बाला से वे सुस्मितपूर्वक वैसे ही, “अजी, खिन्न तुम न हो, हमारे ये देवर हैं ऐसे ही । घर में व्याही वह छोड़कर यहाँ भाग आये हैं ये, इस वय में क्या कहूँ, कहाँ का यह विराग लाये हैं ये ॥२२॥

किन्तु तुम्हारी इच्छा है तो मैं भी इन्हें मनाऊँगी, रहो यहाँ तुम अहो ! तुम्हारा वर मैं इन्हें बनाऊँगी । पर तुम हो ऐश्वर्यशालिनी हम दरिद्र वन-वासी हैं, स्वामी-दास स्वयं हैं हम निज, स्वयं स्वामिनी-दासी हैं ॥२३॥

रमणी बोली—“रहे तुम्हारा मेरा रोम रोम सेवी, कहीं देवरानी यदि अपनी मुझे बना लो तुम देवी !” । सीता बोलीं—“वन में तुम-सी एक बहन यदि पाऊँगी, तो बातें करके ही तुमसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगी ॥” ॥२४॥

“इस भामा विषयक भाभी को अविदित भाव नहीं खेरे”,
 लक्ष्मण को सन्तोष यही था फिर भी थे वे मुँह फेरे।
 बोल उठे अब—“इन बातों मे क्या रक्खा है हे भाभी !
 इस बिनोद मे नहीं दीखती मुझे मोद की आभा भी ॥”२५॥
 “जो वर-माला लिए, आप ही, तुमको वरने आई हो,
 अपना तन, मन, धन सब तुमको अर्पण करने आई हो।
 मञ्जागत लज्जा तज कर भी तिस पर करे स्वयं प्रस्ताव,
 कर सकते हो तुम किस मन से उससे भी ऐसा बर्ताव ?”॥२६॥
 मुस्काये लक्ष्मण, फिर बोले “किस मन से मैं कहूँ भला ?,
 पहले मन भी तो हो मेरे जिससे सुख-दुख सहूँ भला”।
 “अच्छा ठहरो” कह सीता न करके ग्रीवा भङ्ग अहा !,
 “अरे ! अरे !” न सुना लक्ष्मण का, देख उटज की ओर कहा ॥२७॥
 “आर्य्यपुत्र, उठकर तो देखो, क्या ही सु-प्रभात है आज,
 स्वयं सिद्धि-सी खड़ी द्वार पर करके अनुज-बधू का साज”।
 क्षण भर मे देखी रमणी ने एक श्याम शोभा बाँकी,
 क्या शस्यश्यामल भूतल ने दिखलाई निज नर-भाँकी ॥२८॥
 मुसकाकर राघव ने पहले देखा तनिक अनुज की ओर,
 फिर रमणी की ओर देखकर कहा अहा ! ज्यों बोले मोर—
 “शुभे, बताओ कि तुम कौन हो और चाहती हो तुम क्या ?”
 छाती फूल गई रमणी की, क्या चन्दन है, कुंकुम क्या ॥२९॥

बोली वह—“पूछा तो तुमने—‘शुभे, चाहती हो तुम क्या ?’
 इन दशनों-अधरों के आगे क्या मुक्ता है, विद्रुम क्या ? ।
 मैं हूँ कौन, वेश ही मेरा देता इसका परिचय है,
 और चाहती हूँ क्या, यह भी प्रकट हो चुका निश्चय है ॥३०॥
 पर ये तो बस;—‘कहो, कौन तुम ?’ करने लगे प्रश्न छूँछा,
 यह भी नहीं—‘चाहती हो क्या ?’ जैसा अब तुमने पूछा ।
 चाहे दोनों खरे रहे या निकलें दोनो ही खोटे,
 बड़े सदैव बड़े होते हैं छोटे रहते हैं छोटे ॥३१॥
 पहनो कान्त तुम्ही यह मेरी जयमाला-सी वरमाला,
 बने अभी प्रासाद तुम्हारी यह एकान्त पर्णशाला ।
 मुझे ग्रहण कर इस भामा के भूल जायेंगे ये भ्र-भङ्ग,
 हेमकूट, कैलास आदि पर सुख भोगोगे मेरे सङ्ग” ॥३२॥
 मुसकाई मिथिलेशनन्दिनी—“प्रथम देवरानी, फिर सौत,
 अङ्गीकृत है मुझे, किन्तु तुम माँगो कहीं न मेरी मौत ।
 मुझे नित्य दर्शन भर इनके तुम करती रहने देना,
 कहते हैं इसको ही अँगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना ॥३३॥
 भेद-दृष्टि से फिर लक्ष्मण को देखा स्वगुण-गर्जनी ने,
 वर्जन किया किन्तु लक्ष्मण की अधरस्थिता तर्जनी ने ।
 बोले वे—“बस, मौन कि मेरे लिए हो चुकी मान्या तुम,
 यों अनुरुक्ता हुई आर्य्य पर जब अन्यान्यवदान्या तुम” ॥३४॥

प्रभु ने कहा कि “तब तो तुमको दोनों ओर पड़े लाले,
मेरी अनुज-बधू पहले ही बनी आप तुम हे बाले !” ।
हुई विचित्र दशा रमणी की सुन यों एक एक की बात,
लगें नाव को ज्यों प्रवाह के और पवन के भिन्नाघात ॥३५॥
कहा क्रुद्ध होकर तब उसने—“तो अब मैं आशा छोडूँ ?,
जो सम्बन्ध जोड़ बैठी थी उसे आपही अब तोडूँ ? ।
किन्तु भूल जाना न इसे तुम मुझमें है ऐसी भी शक्ति,
कि झलमार कर करनी होगी तुमको फिर मुझ पर अनुरक्ति ॥३६॥
गोल कपोल पलटकर सहसा बने भिड़ों के छत्तो-से,
हिलने लगे उष्ण साँसों से अँठ लपालप लत्तों-से ।
कुन्दकली-से दाँत हो गये बड़ बराह की ढाढ़ों-से,
विकृत, भयानक और रौद्र-रस प्रकटे पूरी बाढ़ों से ॥३७॥
उस आक्रमणकारिणी के झट, लेकर शाणित तीक्ष्ण कृपाण,
नाक-कान काटे लक्ष्मण ने, लिये न उसके पापी प्राण ।
और कुरूपा होकर तब वह रुधिर बहाती, बिललाती,
धूल उड़ाती आँधो ऐसी भगी वहाँ से चिरलाती ॥३८॥

(‘पंचवटी’ ले)

१६ जयशंकर 'प्रसाद'

कविदर का० जयशंकर 'प्रसाद' गोवर्द्धन सराय (काशी) के निवासी हैं। वहीं उनका जन्म माघ शुक्ल दशमी सं० १९४६ को हुआ। उनके पिता देवीप्रसाद जी (सुँधनी साहु) तंबाकू के प्रसिद्ध व्यापारी थे। प्रसादजी के बाल्यकाल में ही उनका देहान्त हो गया; इससे प्रसादजी की शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही हुई। लड़कपन से ही उन्हें कविता से प्रेम है। पहले वे पुराने ढर्रे की ब्रजभाषा की कविता करते थे, जो उनके 'चित्राधार' नामक काव्य-संग्रह में संकलित है। फिर उन्होंने रहस्यवाद संबंधी कविताएँ लिखना आरंभ किया और आजकल हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में वे प्रमुख समझे जाते हैं। 'प्रेमपथिक' 'महाराणा का महत्व' 'ऑसू' 'कानन कुसुम' और 'झरना' उनके अन्य काव्य हैं। इनमें से अंतिम दो संग्रह हैं। वे 'मन्वतर' नामक एक महाकाव्य भी लिख रहे हैं। प्रसाद की कविता की भाषा संस्कृत-मिश्रित और कहीं-कहीं विलष्ट होती है। विचारों की दुरुहता और दार्शनिकता के कारण वह कहीं कहीं दुर्बोध हो जाती है।

प्रसादजी कवि होने के साथ ही आजकल के प्रसिद्ध नाटककार, कहानी और उपन्यास लेखक भी हैं। उनके नाटकों में अधिकांश प्राचीन भारतीय इतिहास से संबंध रखनेवाले विषयों पर हैं। उनमें से विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, राज्यश्री, चंद्रगुप्त, प्रायश्चित्त, सज्जन, करुणालय, कामना और एक धूँट विशेष उल्लेखनीय हैं। 'छाया', 'नव-पल्लव' 'आकाशदीप' और 'अधी'— ये उनकी कहानियों के संग्रह हैं।

उपन्यासों में 'प्रसाद' का 'कंकाल' छप चुका और 'तितली' प्रकाशित हो चुका है। इस प्रकार प्रसादजी बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं। उनकी कविता नमूने के तौर पर नीचे संकलित की जाती है।

एकान्त में

आकाश श्री-सम्पन्न था, नव नीरदों से था घिरा।

संध्या मनोहर खेलती थी, नील-पट तम का गिरा ॥

यह चंचला चपला दिखाती थी कभी अपनी कला।

ज्यों वीर वारिद की प्रभामय रत्नवाली मेखला ॥

हर ओर हरियाली, विटप-डाली कुसुम से पूर्ण हैं।

मकरन्दमय, ज्यों कामिनी के नेत्र मद से पूर्ण हैं ॥

यह शैल-माला नेत्र-पथ के सामने शोभा भली।

निर्जन प्रशान्त सुशैल-पथ में गिरी कुसुमों की कली ॥

कैसी चित्तिज मे है बनाती मेघ-माला रूप को।

गज, अश्व, सुरभी दे रही उपहार पावस-भूप को ॥

यह शैल-शृङ्ग विराम-भूमि बना सुवारिद-वृन्द की।

कैसी झड़ी-सी लग रही है स्वच्छ जल के बिन्दु की ॥

स्रोतस्विनी हरियालियों में कर रही कलरव महा।

ज्यों हरे घूँघट-ओट मे है कामिनी हँसती, अहा ॥

किस ओर से यह स्रोत आता है शिखर में वेग से।

जो पूर्ण करता वन-कणों से हृदय को आवेग से ॥

अविराम जीवन स्रोत-सा यह बन रहा है शैल पर ।

उद्देश्य-हीन गवाँ रहा है समय को क्यों फैलकर ॥
कानन-कुसुम जो है विकसते स्वच्छ शीतल नीर से ।

किस कार्य के है वे भला ? पूछो किसी मतिधीर से ॥
उत्तङ्ग जो यह शृङ्ग है उसपर खड़ा तरुराज है ।

शाखावली की है महा सुखमा सुपुष्प-समाज है ॥
होकर प्रमत्त खड़ा हुआ है यह प्रभञ्जन-वेग मे ।

हाँ, भूमता है चित्त के आमोद के आवेग में ॥
यह शून्यता बन की बनी बेजोड़ पूरी शान्ति से ।

करुणा-कलित कैसी कला कमनीय कोमल कान्ति से ॥
चल चित्त चंचल वेग को तत्काल करता धीर है ।

एकान्त मे विश्रान्त मन पाता सुशीतल नीर है ॥
('कानन कुसुम' से)

भरत

हिमगिरि का उत्तुंग शृंग है सामने ।
खड़ा बताता है भारत के गर्व को ॥
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की ।
मणिमय हो जाता है नवल प्रभात में ॥
बनती हैं हिम-लता कुसुम-मणि के खिले ।
पारिजात का ही पराग शुचि धूलि है ॥

जयशंकर 'प्रसाद'

सांसारिक सब ताप नहीं इस भूमि में ।
सूर्य-ताप भी सदा सुखद होता यहाँ ॥
हिम-सर में भी खिले विमल अरविन्द हैं ।
कहीं नहीं है शोच, कहाँ संकोच है ॥
चन्द्रप्रभा में भी गलकर बनते नदी ।
चन्द्रकान्त-से ये हिम-खंड मनोज्ञ हैं ॥
फैली हैं ये लता लटकती शृंग में ।
जटा समान तपस्वी हिम-गिरि की बनी ॥
कानन इसके स्वादु फलों से हैं भरे ।
सदा अयाचित देते हैं फल प्रेम से ॥
इसकी कैसी रम्य विशाल अधित्यका ।
है जिसके समीप आश्रम ऋषिवर्य का ॥
अहा ! खेलता कौन यहाँ शिशु सिंह से ।
आर्यवृन्द के सुंदर सुखमय भाग्य-सा ॥
कहता है उसको लेकर निज गोद में—
“खोल, खोल, मुख सिंह-बाल मैं देखकर ॥
गिन लूँगा तेरे दाँतों को हैं भले,
देखूँ तो कैसे यह कुटिल कठोर हैं ॥”
देख वीर बालक के इस औद्धत्य को ।
लगी गरजने भरी सिहिनी क्रोध से ॥

छड़ी तानकर बोला बालक रोष से—
 “बाधा देगी क्रीड़ा में यदि तू कभी,
 भार खायगी, और तुझे दूँगा नहीं—
 इस दन्ते को; चली जा, अरी भाग जा ॥”

× × ×

अहा! कौन यह वीर बालक निर्भीक है ? ।
 कहो भला भारतवासी, हो जानते ? ॥
 यही ‘भरत’ वह बालक है, जिस नाम से ।
 ‘भारत’ संज्ञा पड़ी इसी वर-भूमि की ॥
 कश्यप के गुरुकुल में शिषित हो रहा,
 आश्रम में पलकर कानन में घूमकर,
 निज माता की गोद मोद भरता रहा ।
 जो पति से भी बिछुड़ रही दुर्दैव-वश ॥
 जंगल के शिशु सिंह सभी सहचर रहे ।
 रहा घूमता ही निर्भीक प्रवीर यह ॥
 जिसने अपने बलशाली भुजदंड से ।
 भारत का साम्राज्य प्रथम स्थापित किया ॥
 वही वीर यह बालक है दुष्यन्त का ।
 भारत का शिर-रत्न ‘भरत’ शुभ नाम का ॥

(‘कानन-कुसुम’ से)

२० गोपालशरण सिंह

ठाकुर गोपाल शरणसिंह नई गढ़ी (रीवाँ राज्य) के जागीरदार हैं । आपके पिता ठाकुर जगतबहादुरसिंह बड़े धर्मनिष्ठ थे । ठाकुर साहब का जन्म पौष सुदी प्रतिपदा संवत् १९४८ को हुआ । आपकी शिक्षा पहले घर पर ही हुई । फिर दरबार हाई स्कूल से एंट्रेंस की परीक्षा पास करने के पश्चात् आप कॉलेज में पढ़ना चाहते थे, परन्तु कई कारणों से ऐसा न कर सके । आप रीवाँ राज्य के प्रथम श्रेणी के जागीरदारों में से हैं । आज कल स्टेट काउंसिल के प्रधान हैं । आपको कविता से प्रेम बाल्यकाल में ही उत्पन्न हुआ है । पहले आप ब्रजभाषा में कविता करते थे, फिर खड़ी बोली की ओर झुके; और अब उसी में कविता करते हैं । आपकी कविताएँ अभी तक फुटकल विषयों पर ही हुई हैं । अभी तक आपने कोई प्रबंधकाव्य नहीं लिखा । आपकी अधिकांश कविताओं का संकलन 'माधवी' नामक काव्य-संग्रह में हो चुका है । आपकी कविता सरस और सरल होती है । इसी कारण वह लोगों को प्रिय है । आपके कवित्त और सवैये बहुत मनोहर होते हैं । उनमें वैसी ही मधुरता पाई जाती है जैसी ब्रज-भाषा के सुन्दर-से-सुन्दर कवित्तों और सवैयों में मिलती है । ठाकुर साहब की कविता में भावों की विशदता का होना भी उनकी विशेषता है । आपकी भाषा में खड़ी बोली की सबसे अधिक मिठास मिलती है । आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी के शब्दों में "ठाकुर गोपालशरणसिंह कविता की दृष्टि से भी राजा हैं ।"

निम्न-लिखित कविताओं में ठाकुर साहब की कवित्व शक्ति की झलक देखी जा सकती है ।

घनश्याम

श्यामल है नभ श्याम महीतल,
 श्याम महीरुह भी अभिराम हूँ ।
 श्यामल नीरधि-नीर मनोहर,
 नीरद नीरज श्याम ललाम हूँ ।
 श्यामल हूँ बन-बाग सरोवर,
 श्यामल शैल महा छवि-धाम हूँ ।
 कौन भला कह है सकता,
 इसमें उसमें किसमें घनश्याम हूँ ॥१॥

हों अथवा वह हो न कहीं पर,
 हों, सबके मन में घनश्याम हूँ ।
 सुन्दर श्याम-सरोरुह-से छवि-
 धाम विलोचन में घनश्याम हूँ ।
 हूँ करते अविराम विहार,
 छिपे उर-कानन में घनश्याम हूँ ।
 जीवन-दायक हूँ घन के सम,
 जीवन जीवन में घनश्याम हूँ ॥२॥

घन की घटा में नव निरख उसी की छटा,
 मञ्जुल मयूर होते मोद-मद-माते हैं ।
 फूलों में उसी की शोभा देख के मिलिन्द वृन्द,
 फूले न समाते "गुन गुन" गुण गाते हैं ।
 दीप्यमान दीपक में देख वही छवि बाँकी,
 प्रेम से प्रफुल्लित पतङ्ग जलजाते हैं ॥३॥
 कञ्ज-कलिका में नहीं सुपमा मयङ्क की है,
 कामलता कञ्ज की मयङ्क ने न पाई है ।
 चम्पक कली में न सुवर्ण की सुवर्णता है,
 चम्पक की चारुता सुवर्ण में न आई है ।
 रत्न की रुचिरता में, मणि की मनोज्ञता में,
 एक दूसरे की प्रभा देती न दिखाई है ।
 सबकी निकाई सुघराई मोददायी महा,
 ललित लुनाई उस छवि में समाई है ॥४॥
 तेज-धारियों में है कृशानु का भी मान बड़ा,
 किन्तु भानु सबसे महान तेजवान है ।
 पादपों में पारिजात, पर्वतों में हिमवान,
 नदियों में जाह्नवी मनोज्ञता की खान है ।
 मोर-सा मनोहर न कोई खग रूपवान,
 फूल कौन दूसरा गुलाब के समान है ।

यद्यपि सभी हैं उपमान इन्हे मान चुके,
 किन्तु उस छवि-सा न कोई छविमान है ॥ १॥

वन उपवन में सरोज मे सरोवर में,
 सुमन-सुमन में उसी की सुघराई है ।

चम्पक चमेलियों में नवल नवेलियों में,
 ललित लताओं में भी उसकी लुनाई है ।

देख पड़ती है रंग-रंग के विहङ्गमों में,
 सुषमा उसी की कुंज-कुंज मे समाई है ।

सब ठौर देखो, वही छवि दिखलाई देती,
 उर मे समाई तथा लोचनो मे छाई है ॥ ६॥

तलवार

क्यों न लोग तुझसे सदैव डरें, करवाल,
 काल की कराल मूर्ति तू ही है जहान में ।

आखों मे लगा के चकाचौंध उज्ज्वल,
 करती विनाश तू सहास एक आन मे ।

जान पड़ती है कभी बुझती न तेरी प्यास,
 रहती लगी है सदा शोणित के पान में ।

कर निज निन्द्य काम तू भी शरमाती कुछ,
 क्या तू इसी हेतु छिप जाती शीघ्र म्यान में ॥ १॥

तू है करवाल नाश-मूल लोक मे प्रसिद्ध,
 देते शूरमा क्यों तुझे आदर अपार है ।
 लाते ध्यान में न कभी तेरी दया-हीनता को,
 करते न तेरे अविचार का विचार हैं ।
 किस भौंति उन्हे दश मे तू कर लेती भला,
 करते सदा क्यों इतना वे तुझे प्यार हैं ।
 देकर सहर्ष निज शीश उपहार तुझे,
 तुझको बनाते वे गले का मञ्जु हार हैं ॥२॥
 क्यों न हम मानें तलवार सर्वनाशी तुझे,
 प्यासी रहती है सदा शोणित की धार को ।
 क्यों तू मन में है उपजाती मद-मत्सर को,
 क्यों तू तोड़ती है गौंठ आपस के प्यार की ॥
 क्यों तू बन जाती अबलम्बदायिनी सदैव,
 न्याय-दया-हीन मदमत्त अधिकार की ।
 क्यों न टूट जाती जब करती सहायता तू,
 अत्याचार अनाचार और अविचार की ॥३॥
 न्याय सत्य का ही कर सर्वदा समर्थन तू,
 मत कर साथ कभी तू कठोरपन का ।
 चूर कर क्रूरता तू क्रूर भातताइयों की,
 दूर कर दुःख तू समस्त त्रिभुवन का ।

बनकर तू प्रचण्ड काल-दण्ड के समान,
 हर ले घमण्ड पर-पीड़कों के मन का ।
 कर तू सभी का सदा चोर डाकुओं से त्राण,
 मत हर प्राण तू कृपाण दीन जन का ॥४॥

गोपाल

कब से तुम्हारी राह दिन-रात देखता हूँ,
 दयाधन, दयाकर दया दिखलाओ तुम ।
 यह तो बताओ तुम छिपे किस लोक मे हो,
 आओ शीघ्र मुझे मत और तरसाओ तुम ।
 राधा के सहित करो मेरे घर में निवास,
 और सब मेरी भव-बाधा को मिटाओ तुम ।
 जाऊँ मैं कहाँ गोपाल शरण तुम्हारी छोड़,
 नाम के ही नाते अब मुझे अपनाओ तुम ॥१॥
 ('माधवी' से)

२१ सियारामशरण गुप्त

बाबू सियाराम शरण का जन्म चिरगाँव (जिला झाँसी) में भादों की पूर्णिमा संवत् १९५२ में हुआ। वे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। वे खड़ी बोली में ही कविता करते हैं। उनकी भाषा संस्कृत-समन्वित होती है, किन्तु दुर्बोध नहीं होती। वे करुण रस की कविता लिखने में बहुत सफल हुए हैं। उसे पढ़ते समय हृदय में करुणा की लहरें उठने लगती हैं। 'मौर्य-विजय' और 'अनाथ' उनके दो छोटे-से मौलिक खंड-काव्य हैं। वे पत्र-पत्रिकाओं में अकसर लिखा करते हैं। उनकी फुटकल कविताएँ 'आर्द्रा' और 'दूर्वादल' नामक दो संग्रहों के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। वे कवित्व-शक्ति से सम्पन्न बड़े होनहार एवं प्रतिभाशाली कवि हैं।

उनकी करुणरस की दो कविताएँ नीचे संगृहीत हैं।

अबोध

आधी रात, पुञ्जीभूत तम से भरी हुई,
सन्न, किसी डर से डरी हुई,
पाकर न इष्ट मग,
पग को उठाकर भी रखती नहीं थी डग !
किन्तु जानकी की माँ सकी न टाल,
क्षय काल,

निज चिरयात्रा । बिना जाने देश के लिये
 चली गई युग्म नेत्र बन्द किए ।
 उस तमसा का मर्म-भेद कर,
 घोरतर शान्ति-सुच्छेद कर,
 हाहाकार घर में हुआ नया;
 निशि का अटूट वह मौनव्रत टूट गया !
 किन्तु यह सारा हाल,
 जानकी न जान सकी; बेखबर सोती हुई ।
 जागी जब प्रातःकाल
 हेतु कुछ जाने बिना शङ्कित-सी होती हुई

“माँ, माँ” कह,

रो उठी तुरन्त वह ।

पोंछ निज नेत्र-नीर अश्वल के पट से,
 जीजी गई उसके समीप उठ झट-से ।
 ज्यों त्यों कर मन को कड़ा किया,
 और पुचकार उसे गोद में उठा लिया ।

एकाएक अर्थी पर

माँ को पड़ी देखकर

जीजी की गोदी से कूद पड़ने के लिये,

करके करुण रोर

रोकर लगाने लगी पूरा जोर,
 “जाते हैं कहाँ वे अरे माँ को लिए !
 मुझको इसी पर बिठा दे; अरी जीजी कह,
 खटिया-सी कैसी यह !

छोड़ती नहीं क्यों मुझे,
 देख, अभी माँ से पिटवाऊँ तुझे ।

हा हा करती हूँ, देख आने दे,
 जीजी अरी, छोड़ मुझे माँ के साथ जाने दे ।”

किन्तु हाय ! जीजी जकड़े ही रही उसको ।
 छाती से लगा के पकड़े ही रही उसको ।

बस वह रोती ही रही वहाँ,
 जान भी सकी न यह—माँ चली गई कहाँ !

(‘आर्द्रा’ से)

डाक्टर साहब

(१)

बैठे बैठे ऊब उठे थे डाक्टर साहब
 बड़ी देर से । उलट-पलट विज्ञापन भी सब

सियारामशरण गुप्त

देख चुके जब, वहीं मेज पर मुँह बिगाड़कर पटक दिया झखबार, हाथ से धूल झाड़कर ली फिर एक किताब, खोलकर इधर-उधर से लौट-पलट कर, उसे बन्द कर, कुर्सी पर से, तिरछे होकर, देह उठाकर भाँके बाहर; फिर ज्यों के त्यों बैठ गये मस्तक कुञ्चित कर । नौकर जाता हुआ सामने देख अचानक बोले उससे, “कहाँ मर गया था तू अब तक ? कमरा झाड़ा नहीं, अरे क्यों ?” ठहर ठिठककर बोला वह आश्चर्यचकित, “मैंने तो वह घर बड़ी देर का साफ कर दिया ।” डाक्टर साहब फिर भी मुँहला पड़े, “अरे, तो क्या कुछ अब काम नहीं; क्यों यहीं खड़ा है ?” सिर नीचाकर धीरे से वह खिसक गया चुपचाप, निरुत्तर । वहीं आठ दस कोस दूर पर किसी नगर में, डाक्टर के सन्निकट कुटुम्बी जन के घर में, था कुछ उत्सव । वही गई थी पत्नी प्यारी, निज घर की भी तरल कलोत्सव-धारा सारी लेकर अपने साथ । यहाँ सूने में प्रति पल डाक्टर का मन विमन हो रहा था अशि विह्वल ।

(२)

करके हरहर नाद बेतवा की खर-धारा बड़े वेग से बही जा रही थी; तट सारा वही एक ही गान सुन रहा था निर्जन में तन्मय होकर; सान्ध्य-समीरण के सन-सन में गूँज रही थी गूँज उसीकी । चारु चपल तर लहरावलियाँ खेल रही थीं उछल-उछल कर—
 क्रोड़ा मे जल एक दूसरे पर उछालकर,
 थिरक-थिरककर, थाप लगाकर असम ताल पर ।
 डाक्टर साहब एक स्वच्छ पत्थर पर बैठे,
 नदी किनारे भाव-नदी मे-से थे पैठे,
 रेखाएँ कुछ खींच रहे थे बालू पर वे ।
 चौंके सहसा शब्द किसी जन का सुनकर वे ।
 सम्मुख एक 'गँवार' देखकर नाक सिकोड़ी;
 अरे, यहाँ भी शान्ति नहीं मिल सकती थोड़ी ।
 बोले—'कह क्या काम, यहाँ तू कैसा आया ?'
 आगन्तुक ने समाचार कह उन्हे सुनाया ।
 आध कोस ही दूर खेत पर नदी किनारे,
 करता था वह काम; विकल वृष्णा के मारे
 पानी पीने गया; हाथ-मुँह जल में धोकर

अञ्जलि उसने भरी, हुई त्योंही दृग्गोचर
 बीच-धार में देह किसी की बहती जाती,
 कभी डूबती और कभी ऊपर है आती ।
 पहले तो जब उसे अलक ही दिये दिखाई,
 भ्रम सिवार का हुआ, दृष्टि फिर से दौड़ाई
 तब निश्चय कर सका—अरे यह कोई नारी
 पड़ प्रवाह में बही जा रही है बेचारी ।
 किस घर की सुख-शान्ति लूट, कर दिया अँधेरा,
 हत्यारी, अब कौन पिये यह पानी तेरा ?
 बिना हिचक वह कूद पड़ा वैसा ही धम से;
 ऊपर छीटे उड़े । शक्ति सब अन्तरतम से
 संग्रह कर वह चला, काटकर वह खर धारा ।
 लौटा जब उस देह-सहित तब श्रम का मारा
 बालू पर गिर पड़ा हाँफकर । इधर-उधर से
 लोग वहाँ आ जुटे दौड़कर खेतों पर से ।
 नारी थी निस्पन्द, नहीं चलती थी नाड़ी ।
 चुआ रही थी नीर देह पर चिपकी साड़ी;
 वह भी हिलती न थी समीरण के स्पन्दन से ।
 छिटक रही थी किन्तु ज्योति-सी उसके तन से ।
 वैसी ही तब उसे छोड़ वह दौड़ा आया,

बड़ी देर में पता यहाँ डाक्टर का पाया ।
पर डाक्टर सुन सके न उससे-पूरा विवरण,
थोड़े में सब समझ, टोककर बोले तत्क्षण—
“जीती तेरे लिये अभी तक होगी क्या वह ?
जा थाने में, वहीं सुनाना सब ब्योरा यह ।”
आने का उत्साह-वेग निज खोकर सारा,
लौटा वह चुपचाप जुए में हो ज्यों हारा ।
पर तुरन्त ही नये दाँव रखने के बल पर
पीछे वह फिर मुड़ा, चार-छै ही पद चलकर ।
बोला, “मुझको नहीं मरी-सी लगती है वह,
सोने को हो, किन्तु अभी कुछ जगती है वह ।
हूँ गरीब मैं, किन्तु भेंट कुछ कर ही दूँगा,
चलें आप, उपकार जन्म भर मैं मानूँगा ।”
“तू देगा कुछ हमें ?”—बिगड़ कर डाक्टर बोले—
“दे सकने के योग्य अरे पहले हो तो ले ।”
एक दाँव पर लगा शेष-धन अपना सारा,
धीरे-से हो गया ओट में वह बेचारा ।

(३)

टेबुल पर था लैम्प, रोशनी उसकी तीखी
आँखों को ही रही ज्ञात थी शत्रु-सरीखी ।

डाक्टर ने निज ओर एक अखबार लगाया, अपने ऊपर स्वयं डालकर तम की छाया । इसी समय वह तिमिर अचानक दुगुना करके, नौकर आया वहाँ, कक्ष क्रन्दन से भरके । डाक्टर घबरा उठे, “हुआ रे क्या, कुछ कह तो ?” “सर्वनाश हो गया, कहुँ क्या ?” कहकर वह तो और अधिक रो उठा । किन्तु पूछा फिर फिर जब बता सका वह हाल, पीट कर अपना सिर तब “डूब मालिकिन गई, नाव से सहसा गिरकर ?” वज्रपात-सा हुआ अचानक ही डाक्टर पर । निर्दयता से पीट उठे विक्षिप्त हृदय वे, दौड़ पड़े फिर नदी-ओर को उसी समय वे । कहीं अभी मिल जाय वहीं उसका जीवित शव ! दब पैरों से पतित पत्र कर उठे करुण रव !

(आर्द्रा से)

२२ सुमित्रानन्दन पन्त

सुकवि पं० सुमित्रानन्दन पन्त कसौनी जिला अल्मोड़ा में संवत् १९५८ में पैदा हुए । वे पार्वतीय ब्राह्मण पं० गंगादत्त पन्त के पुत्र हैं । उन्होंने इंटरमीडिएट तक अँगरेजी शिक्षा पाई है । वे बँगला और संस्कृत भी जानते हैं । आजकल वे कालाकाँकर राज्य (अवध) में वहाँ के राजा साहब के छोटे भाई के साथ रहते हैं । पन्तजी को प्रकृति से विशेष प्रेम है । उनकी कविता में प्रकृति का रम्य चित्र देखने को मिलता है । वे खड़ी बोली में ही कविता करते हैं । उसमें संस्कृत के शब्दों का अधिक योग रहता है, परन्तु वह होती बहुत मधुर और कोमल है । पन्तजी ने व्याकरण के नियमों और व्यवहार के विपरीत कुछ शब्दों का लिंग-विपर्यय किया है, जो भाषाविदों को खटकता है । वे आजकल के रहस्यवादी कवियों में बहुत प्रतिष्ठित माने जाते हैं । उनकी कविताएँ अधिकतर फुटकल विषयों पर ही लिखी गई हैं, जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा जनता को दिखाई पड़ती हैं । उनके उच्छ्वास, पल्लव, वीणा और गुंजन—नामक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । 'ग्रंथि' नामक उनका करुण-रस-पूर्ण छोटा-सा काव्य भी छप चुका है । इनमें बँगला और अँगरेजी के नवीन ढंग की भावुकतामयी कविताएँ ही अधिकतर हैं । कई कविताएँ तो बहुत सुन्दर हैं । उन्होंने 'हार' नामक एक उपन्यास भी लिखा है । इधर कुछ दिनों से वे नाटक-रचना की ओर भी झुके हैं । पन्तजी हिन्दी के होनहार कवि हैं ।

उनकी कविताओं में से कुछ स्पष्ट और सरस नीचे संगृहीत हैं ।

लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर-चञ्चल
हम खिल-खिल पड़ती हैं अविरल,
जीवन के फेनिल-मोती को
ले-ले चल करतल में टलमल ।

जाने किस मधु का मलय-परस
करता प्राणों को पुलकाकुल,
जीवन की लहलह-लतिका में
विकसा इच्छा के नव-नव दल । अपने०
सुन-सुन मधु-मुरली की मृदु-ध्वनि
गृह-पुलिन नाँध, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल-मिल,
खस-खस पड़ता डर से अञ्चल । अपने०

चिर जन्म-मरण को हँस-हँस कर,
हम आलिङ्गन करतीं पल-पल,
फिर-फिर निस्तल से उठ-उठ कर,
फिर-फिर उसमें हो-हो ओभल । अपने०

बालापन

चित्रकार ! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन

मेरे यौवन के अञ्चल में
चित्रित कर दोगे पावन ?

आज पराक्षा तो लो अपनी
कुशल-लेखनी की ब्रह्मन् !
उसे याद आता है क्या वह
अपने उर का भाव-रतन ?

जब कि कल्पना की तन्त्री मे
खेल रहे थे तुम करतार !
तुम्हें याद होगी, उससे जो
निकली थी अस्फुट झङ्कार ?

हाँ, हाँ, वही, वही, जो जल, थल,
अनिल, अनल, नभसे उस बार
एक बालिका के क्रन्दन में
ध्वनित हुई थी, बन साकार ।

वही प्रतिध्वनि निज बचपन की
कलिका के भीतर अविकार
रज में लिपटी रहती थी नित,
मधुवाला की-सी गुञ्जार,

यौवन के मादक-हाथों ने,
उस कलिका को खोल अजान,

छीन लिया हा ! ओस-बिन्दु-सा
मेरा मधुमय तुतला-गान ।

अहो विश्वसृज ! पुनः गूँथ दो
वह मेरा बिखरा-संगीत
मा की गोदी की थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत ।

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय-संसार,
तारों के विस्मय से विकसित
विपुल भावनाओं का हार,

सरिता के चिकने-उपलों-सी
मेरी इच्छाएँ रङ्गीन,
वह अज्ञानता की सुन्दरता,
वृद्ध-विश्व का रूप नवीन;

अहो कल्पनामय ! फिर रच दो
वह मेरा निर्भय-अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह मा के
दूध से धुली मृदु-मुसकान ।

मेरा चिन्ता-रहित, अनलसित,
वारि-बिम्ब-सा विमल हृदय,

इन्द्रचाप-सा वह बचपन के
मृदुल-अनुभवों का समुदय;

स्वर्ण-गगन-सा, एक ज्योति से
आलिङ्गित जग का परिचय,
इन्दु-विचुम्बित बाल-जलद-सा
मेरी आशा का अभिनय;

इस अभिमानी-अञ्चल में फिर
अङ्कित कर दो, विधि ! अकलङ्क,
मेरा छोना-वालापन फिर
करुण ! लगा दो मेरे अङ्क !

विहग-बालिका का-सा मृदुस्वर,
अर्ध-खिले, नव, कोमल-अङ्ग,
क्रीड़ा-कौतूहलता मन की,
वह मेरी आनन्द-उमङ्ग;

अहो दयामय ! फिर लौटा दो
मेरी पद-प्रिय-चञ्चलता,
तरल-तरङ्गों सी वह लीला,
निर्विकार भावना-लता ।

धूल भरे, घुँघराले, काले,
भय्या को प्रिय मेरे बाल,

माता के चिर-चुम्बित मेरे ।

गोरे-गोरे, सस्मित-गाल;

वह काँटों में उलझी साड़ी,

मञ्जुल फूलों के गहने,

सरल-नीलिमामय मेरे हृग

अछ-हीन, सङ्कोच-सने

उसी सरलता की स्याही से

सदय ! इन्हें अङ्कित कर दो,

मेरे यौवन के प्याले में

फिर वह बालापन भर दो !

हा ! मेरे बचपन-से कितने

बिखर गए जग के शृङ्गार !

जिनकी अविकच-दुर्बलता ही

थी जग की शोभालङ्कार;

जिनकी निर्भयता विभूति थी,

सहज-सरलता शिष्टाचार

औ, जिनकी अबोध-पावनता

थी जग के मङ्गल की द्वार !

हे विधि ! फिर अनुवादित कर दो

उसी सुधा-स्मिति में अनुपम

मा के तन्मय-उर से मेरे
जीवन का तुलना-उपक्रम !

('पल्लव' से)

फूलों का गान

लो जग की डाली-डाली पर
जागीं नव-जीवन की कलियाँ,
मिट्टी ने जड़ निद्रा तजकर
खोलीं स्वप्निल पलकावलियाँ !

मलयानिल ने सरका उर से
उर्वी का तन्द्रिल छायाश्वल,
रज-रज के रोएँ-रोएँ मे,
छू-छू भर दीं पुलकावलियाँ

शशि-किरणों ने मोती से भर
गँथी सौरभ-अलकावलियाँ
गूँजी मधु-अधरों पर मँडरा
इच्छाओं की मधुपावलियाँ ।

श्री-सुख-स्वप्नों के भर लाई
लो, उषा सोने की डलिया,

मुखरित रखतीं जग का आँगन
ये जीवन की नव रँग-रलियों ।

कली

भर गई कली, भर गई कली !

चल-सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज-बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल मे गई चली !
आई लहरी चुम्बन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने,
फेनिल मोती से मुँह भरने,

वह चंचल-सुख से गई छली !

आती ही जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी ?
कितनी ही तो कलियों फहराँ !

सब खेलीं, हिलीं, रहीं सँभली !

निज वृन्त पर उसे खिलना था,
नव नव लहरों से मिलना था,

निज सुख-दुख सहज बदलता था,
रे गेह छोड़, वह वह निकली !

द्विपगा

(१) कबीरदास

साखी

पृष्ठ-३-साखी—कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग किए गए हैं। (१) रमैनी (२) सबद (३) साखी। 'साखी' में लगभग पाँच हजार दोहे हैं जो 'साखी' नाम से कबीर पंथ में पुकारे जाते हैं। इनमें अनेक प्रकार की नीति और धर्म की शिक्षाएँ हैं। 'साखी' शब्द का अर्थ है 'साक्षी' अथवा 'सबूत'। कबीर आदि सन्तों ने अपने इन दोहों में परमात्मा का सबूत दिया है अतः ये दोहे 'साखी' नाम से अभिहित हुए।

दोहा—(३)—ही = (हिय) हृदय में। (४)—बहु मार—अर्थात् अनेक प्रहार भी सहने पड़ते हैं। दीदार = दर्शन (५)—मैं था—अर्थात् अहम् भाव था। तब हरि नहीं—तब तक हरि (परमात्मा) की प्राप्ति नहीं हुई। माहिं = (हृदय के) भीतर (७)—देही देखि सुरग = सुन्दर शरीर को देखकर। बीछड़ियाँ = बिछुड़ने पर। काँचली = साँप आदि के शरीर पर का झिल्लीदार चमड़ा जो हर साल गिर जाता है (८)—भू लेटनौ—अर्थात् कबर में (१०)—पेखना=(सं० प्रेक्षण) तमाशा या अभिनय। जड़िया—जड़ा हुआ है। (१२)—ररै मरै=रकार और मकार अर्थात् 'राम' (१४)—जे = यदि (१५)—सोवन भरा=मदिरा से भरा सुवर्ण का कलश।

पद

पद (१)—बारी=समय (२)—पंडित-दिसि पछिबारा कीन्हौं=पंडितों

की ओर मैंने पीठ फेर दी (कबीर ने सर्वत्र पंडितों तथा मुल्लाओ के कट्टर-पन को फटकारा है) ।

राजा अंबरीषः—राजा अंबरीष बड़े विष्णु-भक्त थे । वे एकादशी का व्रत कर द्वादशी में ब्राह्मणों को भोजन करा पारण करते थे । एक बार उन्होंने दुर्वासा मुनि को निमंत्रण दिया । मुनि के आने में विलम्ब होता देख तथा पारण का समय समाप्त होता जान, राजा ने ब्राह्मणों की सलाह से विष्णु का चरणोदक पी लिया, जिसमें व्रत भंग न हो । इसके पश्चात् दुर्वासा आए और अंबरीष के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हुए कि तूने निमंत्रित ब्राह्मण को खिलाए बिना स्वयं क्या खा लिया । राजा को नष्ट करने के निमित्त मुनि ने कृत्या उत्पन्न की । विष्णु के भेजे सुदर्शन चक्र ने अंबरीष की रक्षा की और दुर्वासा के पीछे लगा । मुनि बिचारे भागकर विष्णु की शरण में गए । विष्णु ने उन्हें अंबरीष के पास भेजकर उन्हीं से क्षमा दिलवाई ।

(३) नृग=इक्ष्वाकु वंशी राजा नृग बड़ा दानी, ज्ञानी तथा धर्मात्मा था । वह नित्य अगणित गायों का दान देता था । एक बार भूल से राजा ने दान की हुई गाय को फिर से दान दे दिया । इसी पाप के कारण उन्हें गिरगिट बनकर गोमती नदी के किनारे अंधे कुएँ में रहना पड़ा था । द्वापर के अन्त में भगवान् कृष्ण ने उन्हें इस गिरगिट योनि से मुक्त किया था ।

(२) मलिक मुहम्मद जायसी

पृष्ठ ९—दोहा (१)—कैलास—जायसी ने इस शब्द का प्रयोग अपनी पुस्तक में सर्वत्र 'स्वर्ग' के अर्थ में किया है । भूमि हुत=पृथ्वी से (लेकर) । लागि=तक । जेइ धूपा—यहाँ 'वह छॉह' से कवि 'परमात्मा की प्राप्ति से उत्पन्न शांति' की ओर संकेत कर रहा है । 'यह धूपा' से

जीवात्मा का परमात्मा से अलग होकर संसार में संतप्त होने का अभिप्राय है ।

(२)—चुहचुही = एक प्रकार की छोटी चिड़िया । सारों = सारिका, मैना । महरि = एक प्रकार की छोटी चिड़िया जिसे ग्वालिन या अहीरिन भी कहते हैं । हारा = हाल अथवा लाचारी या दीनता ।

नोट—इस दोहे के अन्तर्गत भिन्न भिन्न पक्षियों की बोली के सूचक शब्दों (जैसे—एकै तूहो, पीव-पीव आदि) के द्वारा कवि सूफियों की यह भावना व्यक्त करता है कि सृष्टि के जितने जीव हैं उन सबके सम्पूर्ण कार्य परमात्मा की ओर उन्मुख हैं । सूफियों के अनुसार परमात्मा ही एकमात्र सत्य सत्ता है और जीव उससे अलग होकर सदैव उससे मिलने के लिये यत्नशील रहता है । सूफी लोग स्वयं प्रेमी (आशिक) बनकर परमात्मा को प्रियतम (माशूक) के रूप में प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं ।

(३)—पैग पैग पर=कदम कदम पर । पाँवरी=ड्योदी । भई=धूसी है । अनाई=मँगवाकर । गरेरी=चकरदार । हुत=(प्राकृत 'हुतो') से ।

(४) रहस-केलि=आमोद-प्रमोद, हँसी-मज़ाक, सन=से । मेघावर=बादल की घटा । ता पाई=पैर तक । बीजु=बिजली ।

(५)—बानी=वर्ण, रंग, चमक । सोन, डेक, बग, लेदी—ये तालाब की चिड़ियाँ हैं । मरजिया—वह व्यक्ति जो समुद्र आदि में डूबकर अपना प्राण खतरे में डालकर मोती आदि व्यापार की वस्तुएँ निकाले ।

(६)—अपूर=खूब, परिपूर्ण । हरफास्योरी=लवली नाम की लता । न्योजी=लीची । दारिडं=दाड़िम, अनार । राता=अनुरक्त, लुब्ध । खजहजा=खाने के फल । खँदवानी=खाँड़ का रस । कुवहिं=कुएँ में । मेलि=डालकर रहँट=(सं०-अरघट; प्राकृत-अरहट) कुएँ से पानी निकालने का एक यंत्र

(३) सूरदास

(५)—बाल-गोपाल ... तुम्हारी=हे गोपाल तुम्हारा रोग और विपत्ति मेरी इन आँखों को लग जावे ।

(५)—काढ़त=दो ओर करने मे (जैसे माँग काढ़ना) । गुहत्=गूँथने मे । ओँछत=कंघी करने मे । काचो दूध · रोटी—यशोदा ने किसी समय कहा रहा होगा कि कच्चा दूध पीने से चोटी बढ़ती है उसी का उलाहना है ।

(६)—बाँह उँचाय 'बुलावत—अर्थात् चरवाहों की भौँति बाँह उँची करके गायों का नाम ले-लेकर पुकारते हैं । (रंग, आकार आदि के आधार पर बहुधा गायों के नाम रख लिए जाया करते हैं, जैसे सफेद गाय का 'धौरी'; सींग विहीना का 'मूँडी' आदि । श्रीकृष्ण इसी प्रकार के नाम ले लेकर अलग-अलग गायों को पुकारते हैं ।)

(७) व्याकुल मथत · रह्यो—यशोदा की सखी का चित्त कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य को देख उसी ओर आकर्षित हो गया । अतः चित्त की अस्थिरता के कारण मटके की ओर ध्यान न रहने से दही गिर पड़ा ।

(८)—अँजोरि लियो—हरण कर लिया ।

(१०)—राँची=अनुरक्त । झँखना=खीजना, दुख से पछताना और कुढ़ना । बारक=एक बार । पन्खी=छोटा दोना । सिकत=सिकता, बालू ।

(११)—मुकुति · मेली—अर्थात् तुम व्यापार करने के अभिप्राय से ब्रज मे अपनी 'मुक्ति' की गठरी लेकर आए हो पर यहाँ तो बाज़ार मंदा है, इससे यहाँ उसका, प्रायः कुछ नहीं के बराबर, दाम मिलेगा;

अर्थात् यहाँ तुम्हारा उपदेश सुननेवाला कोई नहीं है । अस = (स० अंश) कंधा ।

(१२)—घनसार=कपूर । दधि सुत=(उदधि से उत्पन्न होने के कारण उसका पुत्र) चंद्रमा । अँखियाँ ... गुँजें—अर्थात् अँखें रोते-रोते लाल होकर घुँघची (गुँजा) के सदृश हो गई है ।

(१३)—बातहु कहत न जाने—अर्थात् तुम्हें बात करने की भी तमीज़ नहीं कि किससे कैसी बात करनी चाहिए, कहाँ तो हम गँवार स्त्रियाँ और कहाँ तुम्हारी ब्रह्मज्ञान विषयक बातें !

कहँ अबला ... पहिचाने—अर्थात् कहाँ तो हम अबलाएँ और कहाँ तप-दशा में योगियों की दिगम्बरावस्था ! ज़रा मुख तो सामने करो ! हम तुम्हें पहचानें कि बावले तो नहीं होगए हो ?

साँच कहो ... मुसुकाने—अर्थात् तुमको तो हमने समझ लिया बुद्धिहीन हो, पर अन्त में हम तुमसे एक बात पूछती हैं, ठीक-ठीक कहना । तुम्हें भेजते समय क्या कृष्ण कुछ मुसकुराए भी थे ? (गोपियाँ उद्धव की बातों को अनहोनी समझ रही है, उन्हें विश्वास नहीं होता कि कृष्ण ऐमा क्रूर सँदेसा भेजेंगे ।)

(१४)—सँदेसनि ... भरे—अर्थात् इतने अधिक सँदेसे के पत्र भेजे कि उनसे मधुवन के कूप भर गए । मधुवन—मधु एक दानव था जिसका विवाह रावण की बहन कुंभीनसी के साथ हुआ था । मधु के पुत्र लवणासुर का विनाश कर शत्रुघ्न ने यमुनातट पर मथुरा नगरी बसाई । मधु के नाम से ही पहले आधुनिक मथुरा के आस-पास के प्रान्त को मधुवन कहते थे (देखिए रघुवंश, १५. ५]

नहीं अवन करे=(अवन=आवन, आन) नहीं लौटे । मसि खूँटी—
(क्या) स्याही ख़तम होगई ? कागर=कागज़ । सर दौ लागि जरे—क्या
सरकंडे के वन ही दावाग्नि से जल गए ? (जिससे कि लिखने के लिये
क़र्लम नहीं मिलती) ।

पलक कपाट अरे=पलक रूपी किवाड़ बन्द हो गए है अर्थात् आँखें
खुलतीं ही नहीं ।

(४) तुलसीदास

नारद मोह

पृष्ठ—२४—दोहा (१)—सुमिरत हरिहि साप गति बाधी=दक्ष
महाराज ने नारद मुनि को शाप दिया था कि तुम कही अधिक देर तक
न ठहरो । भगवान का स्मरण करने से मुनि का वह शाप मिट गया ।

(२)—सकल असम-सर-कला-प्रबीना-जो सब (कामदेव की)
विषम वाण चलाने की कलाओ मे निपुण थीं । पतंगा=लाल (सं०
'पत्रंग'); पत्रंग एक प्रकार का बड़ा वृक्ष होता है जिसकी लकड़ी से
बहुत बढ़िया लाल रंग निकलता है; यहाँ 'पानि पतंगा' से तात्पर्य है
“गुलाबी हाथ” । चाँपना=दबाना ।

(५)—मनोभव=कामदेव (जिसकी उत्पत्ति मन मे हो) ।

(६)—कौतूकी=कौतूहल से ।

(१०)—कूटि=कूट; हास्य या व्यंग्य जिसका अर्थ गूढ़ हो [अर्थात्
नारद को सुनाकर ठठा करके कहने लगे]

(१३)—डहँकि=छलकर, ठगकर ।

(१४)—सत्य-लोक—यह सातवाँ और सबसे ऊँचा लोक है; शेष ऋः लोक ये हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपस् । इसे ब्रह्म-लोक भी कहते हैं और यहाँ पहुँचे हुए आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता । प्रलय के समय केवल नीचे के चार लोकों का विनाश होता है । सत्यलोक प्रलय के समय भी नष्ट नहीं होता ।

पदावली

पृष्ठ ३५—पद (१)—क्यों हौं.....साँची—अर्थात् आज मैं सौगन्द खाकर किस प्रकार पवित्र हो सकता हूँ ? मेरे कथन पर किसे विश्वास होगा ?

(२)—सेन=(सं० श्येन) बाज़ ।

(३) सबरी—वाल्मीकीय रामायण में इसका नाम श्रमणी लिखा है । यह जाति की भीलिनी थी और किष्किंधा के पास रहनेवाले मतंग मुनि के शिष्यों की सेवा किया करती थी । जब इसके गुरु की मृत्यु होने लगी तब यह बोली, “अब मैं इस असत्य संसार में रहकर क्या करूँगी ?” गुरु ने उत्तर दिया “अभी तेरा समय नहीं आया है, भगवान का भजन करती हुई उस दिन की प्रतीक्षा कर जिस दिन श्रीरामचन्द्र तेरे आश्रम में आवेंगे ।” गुरु के वचनों पर विश्वास कर शबरी भगवद्भजन में लीन रहती और श्रीराम के आने की प्रतीक्षा किया करती । सीता-हरण के पश्चात् श्रीराम तथा लक्ष्मण इसके आश्रम में पधारे । भगवान के प्रेम में मग्न होकर इसने उनकी खूब सेवा की । प्रेम के आगे नियम भूल गई । आप बेर चखती जाती थी और जो सीठा निकलता था उसे भगवान को खिला देती थी । श्रीराम ने उससे कहा था—

“जोगि-वृन्द-दुर्लभ गति जोई । तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई ॥

मम दरसन-फल परम अनूपा । जीव पाव निज रहज स्वरूपा ॥

सब प्रकार तव भाग बड़, मम चरनन अनुराग ।

तव महिमा जेहि उर बसहि, तासु परम बड़ भाग॥”

(रामचरित मानस)

(४)—सफरी सनमुख भारी—जैसे मछली तो गंगा के वेग से बहनेवाले जल-प्रवाह के सम्मुख चली जाती है, पर इतना बड़ा हाथी बह जाता है (अर्थात् बल के द्वारा पार नहीं जा सकता) । तात्पर्य यह कि राम-प्रेम के प्रवाह में जिनका मन मछली के सदृश है उनके लिये राम-भक्ति द्वारा ईश्वर-प्राप्ति अत्यन्त सरल तथा सुखकारी है, किन्तु जो लोग कर्म, योग वैराग्य आदि साधन करनेवाले हैं उनके लिये ज्ञान मार्ग के साधनों के बल से ईश्वर की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है ।

सकल दृश्य . . न जाही—[वेदान्त-दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य सत्ता है और दृश्य जगत मायामय या असत्य है । यह विवर्त्त-वाद (विवर्त्त=भ्रम) सिद्धान्त है । जल और तरङ्ग दोनों हैं तो एक ही पर नाम और रूप के आधार से पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है । पारिभाषिक शब्दों में तरङ्ग जल का विवर्त्त है । इसी प्रकार जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है । अतः जिस प्रकार जल से भिन्न तरङ्ग की कोई सत्ता नहीं उसी प्रकार ब्रह्म के भिन्न जगत् की भी कोई सत्ता नहीं है । इस दृष्टि से यह दृश्यमान बाह्य जगत् जिस रूप में हमें दिखाई पड़ता है उस रूप में असत्य है ।] इस पद में इसी सिद्धान्त की ओर संकेत है—

गोस्वामीजी कहते हैं कि जो मनुष्य संसार के सभी दृश्य

पदार्थों को अपने पेट में रखता है (अर्थात् अपने हृदय में उन पदार्थों को स्थित करके उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है) और (परम चैतन्य हो) मोह या अज्ञान जनित निद्रा का परित्याग कर समाधि लगा आत्म-स्वरूप में तन्मय हो सो जाता है, (अर्थात् भगवच्चिंतन में तल्लीन हो जाता है), उसे अविद्या के आवरण के हट जाने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और वह संसार की वस्तुओं में भेद-भाव न मान सभी को ब्रह्ममय समझने लगता है । ऐसा योगी शुद्ध आत्मरूप के ज्ञान के प्रवाह में अपनी वृत्तियों को लय करके हरि-पद की प्राप्ति के परम सुख (ब्रह्मानन्द) का अनुभव करता है । ऐसी दशा में उसे सांसारिक शोक-हर्ष, दिन रात आदि द्वंद्वों तथा मोह, भय, देश-काल का भान नहीं होता । जब तक वह ज्ञान की इस उच्चतम भूमि पर नहीं पहुँचता तब तक चित्त का (सांसारिक पदार्थों को सत्यवत् मानने का) भ्रम सर्वथा निवृत्त नहीं ही होता ।

(५) नरोत्तम दास

पृष्ठ ३९—(४) निरद्वंद्व=निश्चिन्त ।

(६)—मो=मे । संदीपन—सान्दीपनि मुनि जो श्रीकृष्ण, बलराम और सुदामा के गुरु थे । उनका आश्रम उज्जयिनी नगरी के पास था ।

(१२)—छड़िया=द्वारपाल (जो हाथ में छड़ी धारण किए हैं ।)

(१४)—सिद्धि करी=प्रस्थान किया । (मंगल की आकांक्षा से कहीं

दिखलाई पड़नेवाले पदार्थ जैसे माता-पिता, स्त्री, बन्धु धन, धाम आदि जो देखने में सत्यवत् प्रतीत होते हैं पर वास्तव में हैं, मायामय, असत्य अशुभा मिथ्या ।

प्रस्थान करने को 'सिद्धि करना' कहते हैं ।) बाली=जौ, गेहूँ आदि के पौधों की बाल । बूट=चने का पौधा ।

(१७)—पगा=पगड़ी । उपानह=जूता । सामा=सामान, सामग्री । चकि रहो—(आश्चर्य से) चकित हो रहा है ।

(२५)—श्रीकृष्ण तथा सुदामा सान्दीपनि मुनि के गुरुकुल में अध्ययन करते थे । एक बार गुरु माता ने सुदामा को कुछ चने दिए और कहा—“तुम और श्रीकृष्ण साथ जाकर जंगल से लकड़ी काट लाओ, और भूख लगने पर ये चने खा लेना ।” जब ये दोनों सहपाठी वन में पहुँचे तब अचानक आँधी आई और वृष्टि होने लगी । इस आँधी-पानी में दोनों मित्र भटककर अलग-अलग हो गए । इस बीच में सुदामा को बड़ी तेज भूख लगी और वे सारा चना चट कर गए । जल वृष्टि रुकने पर दोनों मित्र पुनः मिले, किन्तु श्रीकृष्ण से सुदामा ने चनों का उल्लेख ही नहीं किया । गुरु-कुल लौट आने पर श्रीकृष्ण को यह बात मालूम हुई । इस सवैया में उसी चने की ओर लक्ष्य है ।

(६) रहीम

नीतिमाला

पृष्ठ ४६—छंद (१)—चकोर पक्षी के दो गुण प्रसिद्ध हैं—(१) जब तक चन्द्रमा दिखलाई पड़ता है तब तक यह उसीकी ओर दृष्टि लगाए रहता है । (२) चन्द्रमा के प्रति चकोर का यह प्रेम एकांगी है । अर्थात् वह तो चंद्रमा से प्रेम करता है, परन्तु चन्द्रमा उससे प्रेम नहीं करता ।

(४)—कवियों के बीच प्राचीनकाल से यह धारणा चली आती है कि स्वाति नक्षत्र का जल केले के वृक्ष में पड़ने से कपूर, सीप में पड़ने से मोती और सर्प के मुख में पड़ने से विष हो जाता है। (इस प्रकार एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग से विभिन्न रूपों में परिवर्तन हो जाता है ।)

(६)—एक बार नैमिषारण्य क्षेत्र में मुनियों में यह विवाद हुआ कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव में सबसे बड़ा कौन है। इसकी परीक्षा के लिये भृगु मुनि तीनों देवताओं के पास भेजे गए। पहले वे ब्रह्मा और शिव के पास गए। ये दोनों देवता महान् मानी और क्रोधी सिद्ध हुए। अन्त में वे विष्णु के पास बैकुण्ठ में पहुँचे। उस समय भगवान् सो रहे थे, और लक्ष्मी उनके पैर दाब रही थी। जाते ही भृगु ने भगवान् के हृदय पर एक लात मारी। भगवान् तुरन्त उठ बैठे और पूछने लगे कि कहीं मेरी वज्र-सी कड़ी छाती पर प्रहार करने से आपके कोमल चरणों में चोट तो नहीं लगी। ऐसा कहकर वे उनके पैर मींजने लगे। भृगु लज्जित होकर विष्णु का गुणगान करते हुए मुनियों के पास पहुँचे और सबने निश्चित किया कि विष्णु ही सर्वश्रेष्ठ है। ब्राह्मण का चरण समझकर तबसे विष्णु भगवान् निरन्तर भृगु मुनि के पद का चिह्न अपने वक्षस्थल पर धारण किए रहते हैं। इसी चिह्न को हृदय पर रखने से विष्णु का एक नाम 'श्रीवत्सलाञ्छन' भी है।

(७)—रेख—रेखा; लकीर खींचकर कहना, दृढ़ता और निश्चयपूर्वक जोर देकर कहना।

(१६)—मुनि पत्नी—गौतम की स्त्री अहल्या।

(२०) मृग—चन्द्रमा के रथ मे मृग जुते हुए हैं इसलिये वह ऊपर उछलता है । बराह—भगवान विष्णु बाराह का रूप धारण कर हिरण्याक्ष राक्षस को मारकर पाताल से पृथ्वी को उसके बधन से मुक्त कर लाए थे । (तात्पर्य यह है कि वंश और जाति के अनुसार ही सब के गुण, कर्म और स्वभाव होते हे ।)

बरवै-विलास

पृष्ठ ४९—छंद (१०)—छितव = छिति, पृथ्वी ।

पृष्ठ ५०—बा = सहित । अलि=आली, सखी । कुलफे=दुःख, कष्ट ।

(७) केशव दास

सीता-स्वयंबर

पृष्ठ—५३—खंड परशु=(सं०) शिवजी ।

पृष्ठ—५४—सुमति और विमति—ये दोनों चारण है । सुमति स्वयंबर मे आए हुए प्रत्येक राजा का परिचय पूछता जाता है और विमति बड़ी चतुरता से उत्तर देता जाता है । इन दोनों चारणों की बातचीत मे कवि ने श्लेष अलंकार की बड़ी सुन्दर योजना की है । (श्लेष अलंकार क्या है—यह अलंकार-प्रकरण मे देखिए) । सुरभि=वसन्त ऋतु ।

पृष्ठ—५५—किन मातु गई चै—माता का गर्भ क्यों न गिर गया । भाँड़ भए—अपनी अप्रतिष्ठा करवाई । बाण—(बाणासुर) राजा बलि के सौ पुत्रों मे सबसे बड़ा जो बहुत गुणी और सहस्र बाहुओंवाला था । पर्वतारि=इन्द्र (प्राचीन काल मे पर्वतों के पंख हुआ करते थे । इन्द्र ने उन्हें वज्रप्रहार द्वारा काटा था । इसीसे वह पर्वतों का शत्रु कहा

जाता है) । लुप्तवर्ष=वेदवत् । आशु=शीघ्र । दंडक=एक दंड में (दंड= एक घड़ी या २४ मिनट समय) ।

पृष्ठ—५६—विष दंड=(सं०) कमल की नाल । विडम्बना=लज्जा-जनक बात । पाप-प्रणासी=पाप-विनाशक, (सं० प्रणाशन=नाश करना) पिता-पद—वाणासुर बलि का पुत्र था । यहाँ पिता पद से राजा बलि के चरण से तात्पर्य है । जानै को...उसासी—न जाने कितनी बार मैंने शेष नाग के फनो को साँस लेने का अवकाश दिया है (अर्थात् उन्हें दम लेने की फुरसत तभी मिली जब हमने कुछ समय के लिये पृथ्वी को उनके सिरपर से उठाकर अपने हाथों पर ले लिया था ।

पृष्ठ ५७—हैहयराज करी सो करैगे—कृतवीर्य के पुत्र सहस्रबाहु का दूसरा नाम हैहय था । एक बार रावण नर्मदा नदी में स्नान कर रहा था । सहस्रबाहु ने उसे दस मुँहा जन्तु समझकर पकड़ना चाहा पर रावण नदी के जल में डुबकी मार गया । इस पर सहस्रबाहु नर्मदा के उद्गम स्थान में जाकर लेट गया जिससे जल का आना बन्द हो गया और उसने रावण को पकड़ लिया तथा अपने घर ले जाकर उसे अपने तबेला में घोड़े की तरह बाँध रखा ला । एक बार उसने रावण के दसों शिरों पर दीपक रखकर उसे दीवट की भाँति अपनी नृत्यशाला में खड़ा करा रखा था ।

भूत—शिव के गण । सर्व-मगला=(सं०) पार्वती ।

शर्व=(सं०) शिव ।

(द) रसखानि

पृष्ठ ६०—छद् (१)—जो धरियो कर... धारन-जब अपनी नियत पूजा न पाकर गोवर्द्धन-पर्वत की पूजा होते देख इन्द्र ने कुपित होकर ब्रज-वासियो को वर्षा से विकल करना चाहा, तब श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत की छाया मे ब्रज के ग्वालबालो की रक्षा की थी। यहाँ इसी कथा की ओर संकेत है।

(२)—कलधौत=सुवर्ण। बारौ=(मै) न्योछावर कर दूँ।

(४)—गनत=गिनने मे। जोगी .. नचावत—जिस परमात्मा का ध्यान योगी, यती आदि सिद्ध जन करते है उसी को बाल-कृष्ण रूप मे गोप कन्याएँ थोड़े से छाछ के लिये छकाती और नचाती है।

(५)—पचि हारे=थक गए। हैरान हो गए।

(६)—नेक... कहावै—जिस ईश्वर को तनिक भी हृदयस्थ कर सकने से महा जड़ व्यक्ति भी रस की खानि कहे जाते है, [यहाँ रसखान शब्द के दो अर्थ है, (१) रस की खान, रस का भाण्डार, (२) रसखान (कवि का नाम)]। अबार=अबेर, विलम्ब।

(७)—काग . रोटी—हे सखी! श्रीकृष्ण के हाथ से माखन रोटी छीनकर जो कौआ भागा वह बड़ा भाग्यशाली था। (क्योंकि उसने श्रीकृष्ण की शोभा देखी रही होगी)।

(८)—चेटक=जादू। (९)—गोरज=गायों के चलने से उड़ी धूल।

(१०)—बिललायगो=विकल कर गया। छोहरा=छोकरा, लड़का।

(११) तटनी=(.सं० तटिनी) नदी। चाहि=देखकर।

(५)—उनए=(अवनत,) झुके । घुमरत=घुमड़ते है । वादल इकट्टा होते है । चारिमास.....सोयकै—‘आपाढ़ शुक्ल एकादशी से लेकर कार्तिक शुक्ल एकादशी तक भगवान विष्णु सोते है, यहाँ इसी कथन से तात्पर्य है ।

(१०) बिहारी

पृष्ठ ७०—दोहा (१)—भव-बाधा=संसार के विघ्न । झाँई=(१) परछाई या आभा,(२) झाँकी या झलक, (३) ध्यान । श्याम=(१) श्याम वर्ण वाले श्रीकृष्ण (२) श्रीकृष्ण, (३) काले रंगवाला पदार्थ अर्थात् कलुषता पाप, दुःख दरिद्रता आदि । हरित-दुति=(१) हरे रंग वाला (२) हरा भरा अर्थात् प्रसन्न मुख (३) हृत्द्युति अर्थात् निस्तेज, प्रभाशून्य (इस दोहा में उपर्युक्त शब्दों के तीन-तीन अर्थों के कारण श्लेष अलंकार है । इससे इसके तीन अर्थ होते है ।)

(२)—देखिबी=देखना है ।

(४)—पत्रा=तिथि-पत्र, पंचांग ।

(५)—तंत्रीनाद=वीणा इत्यादि का मधुर स्वर । रति-रंग=प्रेम का आनन्द । अनबूड़े=अर्थात् अधबूड़े, अर्थात् जो लोग तंत्रीनाद, इत्यादि में हाथ तो डालते है पर उनमे पूर्ण रीति से प्रविष्ट नहीं होते ।

(६)—लटकती—झूमती हुई ।

(७)—छिगुन=कनिष्ठिका (अँगुली) । गिलत=निगल लेते है । बलि=राजा बलि ।

(११)—नितप्रति एकत ही रहत—सदा एक साथ रहनेवाले । जुगल किसोर=श्रीकृष्ण तथा राधा ।

(१२)— त्रयताप—संसार में होनेवाले तीन प्रकार के कष्ट (१) आधिभौतिक (२) आधिदैविक (३) आध्यात्मिक । हमामु=(अरबी) स्नानागार जिसमें ऊपर छत से, दीवारों से तथा नीचे से गरमी पहुँचाई जाती है । मति —यह संभावना सूचक शब्द है; कदाचित् ।

(१४)— नै = नदी । बार = द्वार ।

(१८)—रनित = गूँजते हुए । दान = हाथी का मद ।

(१९)—चंद्रिकनु = मोर पख की चंद्रिकाएँ, जो चंद्राकार होती हैं । ससि सेखर = शशि शेखर, शिव । अकस—(अरबी अक्स) उलटा, यहाँ यह शब्द 'शत्रुता' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

(२०) बकारी = टेढ़ी लकीर, जो रुपया लिखने के लिये अंक के आगे खींची जाती है [जैसे—४) = चार रुपया ।] दाम = दमड़ी; पैसे का पच्चीसवाँ भाग ।

(२५) सगुनौ (१) गुण-सहित, बत्ती-सहित (२) शुभ गुण से युक्त । स्नेह = (१) तेल, (२) प्रेम ।

(२८) हरये = धीरे से; मन्द-स्वर में ।

(३०) यह दोहा कवि के इतिहास-परिचय का पुष्ट प्रमाण है । दुर्योधन को जल-स्तंभन विद्या सिद्ध थी । उसीके प्रभाव से युद्ध-के अन्त में वह कुछ समय तक तालाब में छिपा बैठा रहा था ।

(११) भूषण

शिवाष्टक

पृष्ठ ७५—छंद—(१)—जंभ—महिषासुर का पिता जिसे इन्द्र ने मारा था । बारिवाह = (वारि = जल + वह = वहन करनेवाला) बादल ।

(२) दावा = आधिपत्य । पुरहूत = (सं० पुरुहूत) इन्द्र ।

(३)—सरजा-फ़ारसी-सरजाह = (उच्च पदुवाला) यह पदवी शिवाजी के पूर्वजों को मिली थी । बिहद = बेहद, अत्यधिक । मद = मतवाले हाथियों की कनपटी से बहनेवाला एक द्रव पदार्थ । गौबरन = (गजवर) श्रेष्ठ हाथियों । ठेलपेल = धक्कमधक्का । उसलत = उखड़जाते हैं; स्थान भ्रष्ट होते हैं । तारा-सो = तारा के सदृश । थारा = थाल । पाराबार = समुद्र ।

(४)—बाने = आले के आकार का एक हथियार जिसमें कभी-कभी शंङा बाँध देते हैं । कुम्भ = हाथी का मस्तक ।

(५)—मंदर = (१) (मंदिर) महल (२) पर्वत । कंदमूल = (१) मिष्टान्न ; (२) कंदा और जड़ । भूखन = (१) (भूषण) आभूषण; (२) भूख के कारण ।

(६)—गज-इन्द्र = गजेन्द्र, ऐरावत । इन्द्र को अनुज = उपेन्द्र, विष्णु । दुगधि-नदीस = क्षीरसागर । साहि-तनै = शाहजीका पुत्र शिवाजी । निजगिरि = अपने पर्वत अर्थात् कैलाश ।

छत्रसाल-शस्त्रच्छटा

पृष्ठ ७८—छंद (१)—भुज-भुजगेस की बैसंगिनी भुजंगिनी-सी = छत्रसाल की भुजा रूपी शेषनाग की वयस-संगिनी (आयु भर साथ देने वाली) भुजंगिनी के सदृश । पाखर = लोहे की झूल । पच्छी परछीने = पक्ष छिन्न या पंख कटे पक्षियों के सदृश । परछीने वीर—(प्र = विशेष + छिन्न = अलग-अलग) अर्थात् शत्रु जिनके अंग कटकर इधर-उधर बिखरे पड़े हैं । या, (पर = पराए अथवा शत्रु + छीने = क्षीण,) अर्थात् निर्बल शत्रु । वर छीने हैं = बल को छीन लिया है ।

(१२) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

मंगलाचरण

पृष्ठ ८१—छंद (१)—इस दोहे में कवि ने घनश्याम (श्रीकृष्ण) की उपमा घन (बादल) से दी है ।

(२)—शिवजी के मस्तक पर गंगा जी को देखकर पार्वती पूछती है कि यह कौन स्त्री है । शिवजी गंगाजी को छिपाते हुए उस बात को टरकाते हुए उत्तर देते हैं ।

(३)—ताण्डव-नृत्य के समय भगवान शिव लोक-रक्षा का ध्यान रखकर भरपूर हिल-डुल कर नाच नहीं सकते । इस छंद में कवि ने यही भाव व्यक्त किया है । न खोलत नैन—शिवजी के तीसरे नेत्र से अग्नि निकलती है इसलिये उसे बन्द किए हैं ।

रसीले सवैये

(१)—पतिभाइए=प्रतीति कीजिए । पयान=(यात्रा के लिये) प्रस्थान ।

(२)—गरीब नेवाज=दीनों पर कृपा करनेवाला ।

(३)—पेखिये = देखिए ।

(४)—औध = अवधि ।

(५)—पचना=किसी कार्य के लिये बहुत अधिक परिश्रम करना, हैरान होना ।

(६)—कूप ही में.....परी है—जैसे कुएँ में भाँग पड़ी होने से उस कूप का जल पीनेवाले सभी उन्मत्त हो जाते हैं, वैसे सभी गोपियाँ श्याम

के विरह में उन्मत्त हो रही हैं। (कुएँ में भाँग पड़ने का अर्थ है सबकी बुद्धि मारी जाना ।)

लोरी

पृष्ठ ८३—बारे=बालक, बच्चा । सीरी=शीतल ।

कालिन्दी की उल्लासिता

पृष्ठ ८४—छंद (१)—लुलु—लुलु । बारन=रोकने के लिये ।

(२)—सैवाल=(सं० शैवाल) सेवार, जल में उगनेवाली वनस्पति विशेष । उपचार=सामग्री ।

(३) कमला=लक्ष्मी । राका=पूर्णिमा । करि सतधा=सैकड़ों विभाग करके (सं० शतधा) ।

(४)—ओभा=आभा, प्रकाश ।

(७)—भविकल ससि—पूर्ण चन्द्रमा ।

निसिपति मल्ल—चंद्रमा रूपी कुशती लड़ने वाला ।

(८)—कारण्डव—हंस की जाति का एक पक्षी । जलकुक्कुट=पनडुब्बी ।

(१३) श्रीधर पाठक

वर्षा-विभव

नोट—यह कविता कालिदास के 'ऋतुसंहार' से अनुवादित है ।

पृ० ८८—छंद (१) रोर=रव, ध्वनि, गर्जन ।

प्रिये—कालिदास ने 'ऋतुसंहार' के सभी श्लोक अपनी स्त्री को संबोधित किए हैं । इसी रीति इस सवैया में भी 'प्रिये' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

(२) — यह पक्षी बादल का अनन्य प्रेमी होता है । यह वर्षा में बहुत सुरीली आवाज से बोलता है, चातक । घोर=ध्वनि, गर्जन ।

(३) — उलहे=निकले, प्रस्फुटित हुए । कंदली=कदली, केला । बीर-बहूटी=एक मुलायम गहरे लाल रंग का सुन्दर कीड़ा, जो प्रथम वर्षा होने पर पृथ्वी पर निकलता है ।

(४) — पख=पक्ष, पर । मुरवा=मोर ।

(५) — उत्पल=नील कमल ।

(६) — कुण्डलीचक्र=चक्रदार, वृत्ताकार ।

(१३) — व्यारि=पवन, हवा । (१४) — बकुल=मौलसिरी का फूल । यूथिका=जूही ।

सुसन्देश

पृ० ९१ — बानक=ढंग, वेश, सज-धज ।

बनाष्टक

पृ० ९२ — (२) — अँचल=अंचल, देश का वह भाग जो सीमा के समीप हो ।

(३) — परेवा=कबूतर । परेई=कबूतरी ।

(४) — क्षिल्ली=क्षीगुर ।

(१४) अयोध्या सिंह उपाध्याय

गोचारण से प्रत्यागमन

पृष्ठ—९५ छंद (१) — अवसान=अन्त । कमलिनी=कुल-वल्लभ=सूर्य ।

(२)—~~समुत्थित~~ था हुआ=(सं०—समुत्थित=सम् + उत् + स्थित)
अर्थात् उठ रहा था या उत्पन्न हो रहा था ।

(३)—अनुरञ्जित हो गईं=लाल रंग से रँग गई ।

(५)—तिरोहित=छिपा ।

(६)—कणित=शब्दायमान ।

(७)—~~किकट~~—~~दुल~~ (११)—ककुभ=दिशा । कदन=विनाश ।

(१२)—अतसि=(सं० अतसी) अलसी ।

क्या से क्या

पृष्ठ १००—(५)—मारते रहे पाला=बाजी जीतते रहे (पाला=कुस्ती लड़ने या कसरत करने का स्थान, अखाड़ा); पाले पड़ना=वश में होना । गाल मारना=डींग हाँकना, बड़-बड़ कर बातें करना ।

(८)—मोथा=नागर मोथा नामक घास ।

(१५) जगन्नाथदास रत्नाकर

भीष्म प्रतिज्ञा

पृ० १०४—छंद (१)—भीति=(संभित्ति) दीवाल । भीति=भय हरि-प्रन—महाभारत के युद्ध में कृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष लेते समय यह प्रण किया था कि मैं इस युद्ध में अस्त्र-शस्त्र न ग्रहण करूँगा । यहाँ उनके इसी प्रण को भंग कराने की प्रतिज्ञा भीष्म पितामह कर रहे हैं ।

(२)—पारथ=पार्थ, पृथा (कुंती) का पुत्र, अर्जुन । पंचनि=पंचों,

सब लोगों । 'पंचनि=पाँचों (अर्थात् पाँचों पाण्डवों) । पंचतत्त्व=पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँचों तत्त्व । पंचतत्त्व में मिलैहैं— अर्थात् मार डालूँगा ।

वीर अभिमन्यु

पृ० १०५—(१)—अंध-भूपति—धृतराष्ट्र । सँदोह=संदोह, समुदाय । सूत-पूत (अधिरथ नामक सूत) सारथी का पुत्र अर्थात् कर्ण ।

औधि=भवधि, सीमा, हृद । पारथ-सपूत=अर्जुन का सुपुत्र, अभिमन्यु । कृपानी के पानी=तलवार की धार ।

(२)—गांडिव धनी=गांडीव (नामक धनुष) का स्वामी, अर्जुन ।

श्रीशिव-वंदना

पृ० १०५—(१) अरक=अर्क, मदार ।

(२)—रावरे . . सबै—अर्थात् जिन लोगों के भाग्य में तुम (ब्रह्मा) ने दुःख लिखा है । हमही-से—हमारे (कुबेर के) समान (संपत्तिशाली) ।

(३)—गजानन=गणेश (यह बुद्धिमत्ता में सबसे बढ़कर माने जाते हैं) मादी=मद (नशा) में मत्त, मतवाला । चंद्रचूर=चंद्रचूड़, शंकर ।

(४)—सूलपानि=(त्रिशूल-पाणि), शंकर । लुकार=लौ, ज्वाला ।

(५)—भूप—यहाँ भगोरथ से तात्पर्य है, जिनकी प्रार्थना पर गंगा पृथ्वी पर आई थी । कदंबिनी=कादंबिनी, मेघमाला ।

गंगावतरण

(१)—सुरधुनि=गंगा । हरि बट में—जब प्रलय के समय

सम्पूर्ण पृथ्वी जल से परिपूर्ण हो जाती है तब अक्षय बट क एक पत्ते के ऊपर भगवान बालकरूप धारण कर आनंदमग्न दिखाई पडते हैं । यहाँ, गंगा के आगमन से भगवान् विष्णु को प्रलय की शंका हुई ।

(१६) रामचंद्र शुक्त

प्रकृति-पर्यवेक्षण

पृ० ११०—छंद (१)—तुंग=उत्तंग, ऊँची । नग-माला=पर्वत श्रेणी । धुँआधार=काली ।

(२)—प्रीति-भोज=खानपान, वह खान-पान जिसमे मित्र, बंधु आदि प्रेम पूर्वक सम्मिलित हो ।

(३)—^१धौले=धवल, श्वेत । पलाश—एक पेड़, जिसका फूल लाल रंग का होता है और जो वसंत ऋतु में फूलता है । (४)—पीवर=मोटी ।

(५)—पीवर=भारी, गुरु, वजनी । रेणुचक्र=बवंडर । (६)—घर्म=घाम, धूप ।

कुमार का रंग निवास

पृ० ११३—अमराई=आम का बाग । मधूक=महुआ ।

पृ० ११४—विश्रामवन—वह बगीचा जो सिद्धार्थ के आराम करने के लिये बनाया गया था । रोहनि—रोहिणी नदी, जिसके तट पर गौतम का नगर था, और जिसके किनारे उनका महल बनाया गया था ।

‘मुद्रा’, ‘अंगन’—ये पहरा देनेवालों के द्वारा रात मे पहरा देते समय उच्चरित होनेवाले विशेष शब्द है ।

लुनाई=लावण्य, सुंदरता ।

पृ० ११५—सँभार=चेतना, होश । ओप-कान्ति । कलकंठ=कोयल, ।

पृ० ११६—दाम=माला ।

पृ० ११७ = गंगा-गौमती—ये सिद्धार्थ के महल की दो विशिष्ट परिचारिकाओं के नाम हैं ।

(१७) सत्यनारायण 'कविरत्न'

उपालम्भ

पृष्ठ ११९—दानिनु के भोरे—दानियो (में जो गुण हैं उन) कं भ्रम मे पड़कर । भाँति-भाँति पकराये—इन पंक्तियों में श्री कृष्ण के बाल्यावस्था मे एक बार ब्रज की गोपियों के यमुना तट पर रखे हुए पहनने के कपड़ों को चुरा कर कदंब पर चढ़कर बैठ जाने और कौरवों की सभा में द्रौपदी के दुःशासन द्वारा वस्त्र हरण किए जाने के समय उसकी साड़ी को अनन्त कर देनेवाले दो प्रसिद्ध आख्यानों की ओर संकेत है ।

कुवलिया—कुवलियापीड़ नामक हाथी जिसे कंस ने श्रीकृष्ण के अपने दरबार में आने के समय, उनके मार्ग का अवरोध करने के लिये फाटक पर खड़ा करवाया था । श्रीकृष्ण ने बलराम की सहायता से उसे मार डाला था । गजेन्द्र—वह हाथी जिसका ग्राह से पकड़े जाने पर आर्त्तनाद सुन भगवान विष्णु ने त्राण किया था । निधन=मृत्यु ।

पृष्ठ १२०—पौंडरीक—(पौंड्रक) पौराणिक समय का काशी का एक राजा जिसने कृष्ण के पास अभिमान पूर्वक समाचार भेजा कि 'मैं वासुदेव हूँ, तुम इस नाम को छोड़ दो,' श्रीकृष्ण की अस्वीकृति पाने पर

उसने उनपर आक्रमण किया और भगवान के हाथ मारा गया ।

मालमता=सम्पत्ति । तूमा पलटी—कहते हैं पहले समय का एक चोर साधू हो गया । फिर भी उसका चोरी करने का स्वभाव न छूटा । रात में जब उसकी मंडली के सब साधु सो जाते तब वह उठकर उनके बिस्तरों के निकट रखे हुए जलसे परिपूर्ण उनके तूँवे स्थानान्तरित कर देता । प्रातः-काल जब वे जागते तब यथास्थान अपना तूँवा न पाकर बहुत परेशान होते । इस प्रकार रोज उनके बीच गड़बड़ी मचती । अन्त में एक दिन वह पहले वाला चोर (जो अब साधु हो गया था) पकड़ा गया । उसके ऊपर बेभाव की पड़ी । उसकी इस, (तूँवों को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में रखने की) क्रिया के कारण 'तूमापलटी' से अभिप्राय होता है—'उलट फेर करने का काम' । डोवहु=डुबाते हो । अपु=आपस में । निबडी रक्क—जिसका धन समाप्त हो चुका है वह, यहाँ आशय यह है कि हे परमात्मा, तुम्हारे पास अपना कुछ है ही नहीं; दूसरों से लेकर जो अपने भक्तों को देते थे वह भी जान पड़ता है समाप्त हो गया । तुम दिवालिया हो गए हो ।

'बड़े-बड़े तुम मठा धुँवारे'—इस मुहावरे का आशय यह है कि तुम्हारे पास है तो कुछ नहीं, परन्तु औरों के देखने में बहुत सम्पन्न जान पड़ते हो ।

प्रभो !

पृष्ठ १२०—बारन=हाथी । बार=विलम्ब ।

पृष्ठ १२१—शरणापन्न=शरणागत । जाने—अर्थात् मैं नहीं जानता ।

'सत'=सत्यनारायण 'कविरत्न' ।

गिरिजा सिन्धुजा संवाद

पृष्ठ १२१—विश्व-विदारण—विघ्न को विदीर्ण करनेवाले अर्थात्

गणेश जी। भिखारी—भीख माँगनेवाले अर्थात् शिवजी। बलि पै पखो कसालो—विष्णु ने वस्त्र रूप धारण कर राजा बलि से तीन ढग भूमि माँगी थी और विराट रूप धारण कर सब लोकों को नाप लिया था। [लक्ष्मी पार्वतीजी के पति शिव को यहाँ भिखारी कहती हैं, क्योंकि वे खपर लेकर अन्नपूर्णा रूप धारिणी पार्वती के यहाँ भी भीख माँगते हैं ('भीख माँगि भव खाहि'—'तुलसी')]। इसके उत्तर में पार्वती उन्हीं के पति विष्णु का बलि के यहाँ भीख माँगने की घटना की ओर संकेत करती हैं। 'पशुपति' तथा 'शैलपति'=शिव; इन शब्दों से पार्वती पशु (गायें) चरानेवाले एवं गोवर्द्धन-शैल (पर्वत) उठानेवाले कृष्ण की ओर संकेत करती हैं।

[इस कविता में पूछनेवाली लक्ष्मी के प्रश्न के शब्दों का दूसरा अर्थ निकालकर पार्वती बड़ा मनोरंजक दृश्य उपस्थित करती हैं।]

भ्रमर दूत

पृष्ठ १२२—श्रुति-सेतु=वेदों की मर्यादा। कल=चैन।

पृष्ठ १२३—महरि—यशोदा (व्रज में इस शब्द का प्रयोग प्रतिष्ठित यक्ति के लिये होता है)। सीरी=शीतल।

विद्या-बल होइ—जब किसी स्त्री की बुद्धि विद्या का बल पाती है तब निर्बल स्त्री सबल हो जाती है।

पूत=(१) पुत्र, (२) पवित्र। परम-दरसन=परमात्मा का दर्शन अर्थात् श्रीकृष्ण का दर्शन।

पृष्ठ १२४—कातर=दीन। षटपद=भौरा। सिदौसौ=शीघ्र

पृष्ठ १२५—निधुवन=वृन्दावन के समीप स्थित एक स्थान जहाँ श्रीकृष्ण अपने बाल्यकाल में गोपियों के साथ खेले थे ।

पृष्ठ १२६—हीय = हृदय । सद = (सं० सच्च) टटका, ताजा । लालो = लालसा ।

पृ० १२७—सेवा-कुंज —वृन्दावन में एक स्थल; कहते हैं यहाँ श्रीकृष्ण अब भी नित्य रात में रास-क्रीड़ा करते हैं ।

पृष्ठ--१२८—काँड़ी--तरकारी बोनै और बेचने का व्यवसाय करनेवाली एक जाति । झाऊनि = झाऊ, (सं० झावुक) एक प्रकार का छोटा झाड़, जो प्रायः गंगा नदी के किनारे बहुत होता है । यह बहुधा नदियों के कछारों में होता है ।

(१८) मैथिलीशरण गुप्त

नक-कटैया

पृष्ठ १३२--नक-कटैया--नाक का काटा जाना । लक्ष्मण ने शूर्पणखा की नाक काटी थी । (काशी में आजकल जो राम-लीला होती है उसमें इस नाक के काटने का दृश्य 'नक-कटैया' कहा जाता है । लेखक ने काशी निवासी होने के कारण ही काशी में व्यवहार में आनेवाले इस शब्द का यहाँ प्रयोग किया है ।)

छंद--(२)--चिकुर-जाल = केश-पाश ।

टाँगा धनुष...डाला--कामदेव ने कल्पलता-पर (अपना) धनुष टाँगा था झूला डाला है । (यहाँ शूर्पणखा के हाथ की समता कल्पलता से दी गई है; कामदेव का धनुष फूलों का होता है, ऐसा प्रसिद्ध है)

(३)—दोल=झला । कूल=किनारा । शाल=एक सुन्दर पहाड़ी वृक्ष ।

(५) प्रगल्भता = ढिठाई, औद्धत्य ।

(६) भाषण—भङ्गी = बात करने का ढंग ।

(१२)—वृक्ष लगाने “ चखते है—अनेक व्यक्ति स्वार्थ-भावना से प्रेरित होकर नहीं बल्कि फलेच्छा रहित होकर वृक्ष लगाते है पर वृक्षों के फल युक्त होनेपर क्या वे उन फलो का उपभोग नहीं करते ? (उसी प्रकार यद्यपि तुम निष्काम तपस्या कर रहे हो पर उससे प्राप्त फल का तिरस्कार करना तुम्हे उचित नहो—अर्थात् मै ही तुम्हारी तपस्या का फल हूँ और तुम्हे चाहिए कि मुझे स्वीकार करो ।)

(१५) पौ फटना=सबरे का उजाला दिखाई पड़ना । खड़ी स्वयं क्या ऊषाथी—अर्थात् सीता ही मानो मूर्त्तिमान उषा सुन्दरी थी ।

(१७) कुमुद्वती=एक प्रकार की सफेद कुमुदिनी जो चंद्रोदय के साथ ही विकसित होती तथा सूर्योदय के साथ संकुचित होती है । (तात्पर्य यह है कि सीता रूपी कमलिनी का विकास देव शूर्पणखा प्रभातकालीन कुमुद्वती के सदृश सिकुड़ गई ।)

शुक—शुकदेव व्यास मुनि के पुत्र थे । कहा जाता है, एक बार वृताची नामक इन्द्र की अप्सरा शुक्री (तोती) के रूप में पृथ्वी पर फिर रही थी । उसका रूप-लावण्य देखकर व्यासमुनि उसपर मोहित होगए । उसी शुक्री से शुकदेव जी का जन्म हुआ । जन्म लेते ही माया के प्रपञ्चों से अलग रहने के कारण शुकदेव तपस्या करने को वन में भाग गए । व्यास ने उनसे विवाह करने के लिये बहुत आग्रह किया पर वे किसी तरह पिता की बात पर राजी नहीं हुए । रंभा नाम की अप्सरा ने उन्हें

अपने हाव-भाव से विचलित करने की तथा अनेक तर्क-विराक्त और युक्तियों द्वारा प्रेममार्ग की ओर लाने की चेष्टा की पर उसकी समस्त युक्तियाँ निष्फल हुई। इन्हीं शुकदेव ने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत की कथा सात दिन में सुनाई थी। (सूचना—श्रीयुक्त वियोगीहरि ने 'शुकदेव' नामक कविता में रंभा और शुक के संवाद का वर्णन किया है)।

(२६)—मज्जागत = सहज, स्वाभाविक ।

(२७)—उटज = क्षोषड़ी ।

(२९)—ज्यों बोले मोर—अर्थात् मोर के सदृश (संगीत के छठे श्रैवत स्वर से; (संगीत के सात स्वर ये हैं—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, श्रैवत, निषाद ।)

(३२)—हेमकूट—हिमालय के उत्तर का एक सुवर्ण-पर्वत जिसका उल्लेख पुराणों में मिलता है ।

(३८)—शाणित—तीक्ष्ण किया हुआ ।

(१६) जयशंकर प्रसाद

पृष्ठ १४१—मेखला—करधनी; तागड़ी ।

पृष्ठ १४३—चन्द्रकान्त = एक मणि या रत्न जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह चंद्रमा की किरणों के सम्पर्क से द्रवित होता है ।

ऋषिवर्य—यहाँ कश्यप ऋषि से तात्पर्य है ।

पृष्ठ १४४—औद्धत्य = ठिठाई ।

कश्यप—एक वैदिक कालीन ऋषि । इन्होंने के आश्रम में दुष्यन्त

से परित्यक्त होषी पर शकुन्तला रही थी। यहीं उसके पुत्र भरत का जन्म हुआ था, और यहीं उसकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी।

(२०) गोपाल शरण सिंह

पृष्ठ—१४६—छंद (१)—महीरूह=वृक्ष।

(२)—जीवन जीवन=जीवों के जीवन में; प्रत्येक प्राणी के जीवन में।

पृष्ठ १४७—(१) जुन्हाई=ज्योत्स्ना, चाँदनी।

(३)—सुषमा उसी की अघाते हैं—उसी (परमात्मा) की सुन्दरता को चन्द्रमा में देख कर उसके रूप-रूपी अमृत का पान करके चकोर तृप्त नहीं होते।

पृष्ठ १५१—जाऊँ मैं कहाँ गोपाल शरण तुम्हारी छोड़-यहाँ 'गोपाल शरण' के दो अर्थ हैं; (१) श्री कृष्ण की शरण, (२) गोपाल शरण (कवि का नाम)

(२१) सियाराम शरण गुप्त

पृष्ठ—१५३—तमसा=(सं० तमस्) अँधेरी (रात)

पृष्ठ—१५५—कुञ्चित=टेढ़ा।

पृष्ठ १५६—वेतवा—मध्य भारत की एक प्रसिद्ध नदी, वेतवती।

सान्ध्य समीरण—संध्या का पवन

पृष्ठ १५९—कक्ष—कमरा, कोठरी। विक्षिप्त—पागल, ब्याकुल।

(२२) सुमित्रानन्दन पंत

बालापन

नोट—इस कविता में कवि ने ब्रह्मा को चित्रकार के रूप में सम्बोधित किया है। बाल्यावस्था की अनुपम सुपमा का स्मरण कर एक बालिका ब्रह्मा से प्रार्थना करती है कि वह उसे पुनः वे बाल्यकालीन दिन प्रदान करे।

पृ० १६२—जब कि कल्पना की तंत्री में साकार—अर्थात् हे प्रह्वन्, तुम्हें स्मरण होगा जब तुम ध्यानावस्थित होकर सृष्टि की रचना करने की कल्पना कर रहे थे और उस समय मानो तुम अपनी कल्पना-रूपी वीणा बजा रहे थे, तब उसमें से एक अस्पष्ट ध्वनि निकली थी। वह जल, पृथ्वी, पवन, अग्नि और आकाश इन पाँचों तत्वों के मेल से मानों (मुझ) बालिका के (पहली बार) रोने के रूप में शरीर धारण करके प्रकट हुई थी।

तारों के हार—जब मैं तारागण को देखकर आश्चर्यचकित होती थी तब (मेरे हृदय में) अगणित विचारों का हार खिल जाता था, अर्थात् उसमें अनेक भावों का उदय होता था।

पृ० १६४—समुदय=(संस्कृत में इसका अर्थ) समुदाय, उठना (दोनों होता है)। स्वर्ण-गगन=सुनहला आकाश। निर्विकार भावना=वासनाविहीन भाव। अनुवादित—पुनः परिवर्तित (कर दो)।

फूलों का गान

पृ० १६६—स्वप्निल—(dreamy) उनींदी। उर्वी=पृथ्वी। तन्द्रिल=तन्द्रा से युक्त; अलसाई हुई।